॥ श्रीहरिः ॥

जीवन्मुक्तिविवेक

का

हिन्दीभाषानुवाद,

॥ जीवन्मुक्तिप्रमाण प्रथम प्रकरण ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥१॥ अथ वक्ष्ये विविदिषान्यासं विद्वन्न्यासश्च भेदतः। हेतू विदेहमुक्तेश्च जीवन्मुक्तेश्च तौ क्रमात्।२॥संन्यासहेतुर्वैराग्यं यदहर्विरजेत्तदा। प्रव्रजेदिति वेदोक्तस्तद्भेदस्तु पुराणगः ॥३॥ विरक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता तीव्रा तीव्रतरेति च। सत्यामेव तु तीव्रायां न्यसेद्योगी कुटीचके ॥४॥ शक्तो बहूदके तीव्रतरायां हंससंज्ञिते। मुमुक्षुः परमे हंसे साक्षाद्विज्ञानसाधने ॥ ५ ॥ पुत्रदारगृहादीनां नाशे तात्कालिकी मतिः। धिक् संसार इतीदृक् स्याद्विरक्तेर्मन्दता हि सा ॥६॥ अस्मिन् जन्मनि मा भूवन् पुत्रदारादयो मम। इति या सुस्थिरा बुद्धिः सा वैराग्यस्य तीव्रता ॥ ७ ॥ पुनरावृत्तिसहितो लोको मे मास्तु कश्चन। इति तीव्रतरत्वं स्यान्मन्दे न्यासो न कोऽपि हि ॥८॥ यात्राद्यशक्तिशक्तिभ्यां तीव्रे न्यासद्वयं भवेत्। कुटीचको बहूदश्चेत्युभावेतौ त्रिदण्डिनौ ॥ ९ ॥ द्वयं तीव्रतरे ब्रह्मलोकमोक्षविभेदतः। तल्लोके तत्त्वविद्धंसो लोकेऽस्मिन् परहंसकः ॥ १० ॥ एतेषां तु समाचाराः प्रोक्ताः पाराशरस्मृतौ। व्याख्यानेऽस्माभिरत्रायं परहंसो विविच्यते ॥११॥ जिज्ञासुर्ज्ञानवांश्चेति परहंसो द्विधा मतः। प्राप्तुं ज्ञानाय जिज्ञासोर्न्यासं वाजसनेयिनः ॥ १२ ॥ प्रव्राजिनो लोकमेतमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति हि। एतस्यार्थस्तु गद्येन वक्ष्यते मन्दबुद्धये ॥ १३ ॥

जिनके श्वासरूप वेद हैं, तथा जिन्होंने वेदोंमेंसे सकल जगत्को रचा है, उन श्रीविद्यातीर्थ (सकल विद्याओंके पवित्र आश्रय गुरुसे अभिन्न) श्रीमहेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥ विविदिषासंन्यास और विद्वत्संन्यासको भिन्न २ कहूंगा, उनमें पहिला विविदिषासंन्यास विदेहमुक्तिका और दूसरा विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्तिका कारण है ॥२॥ जिस दिन चित्तमें वैराग्यका उदय होय उसी दिन संन्यास ग्रहण करे, ऐसा श्रुति कहती है, इसकारण संन्यासका हेतु वैराग्य है, इस संन्यासके भेद पुराणोंमें कहे हैं ॥ ३ ॥ वैराग्य दो प्रकारका है एक तीव्र और दूसरा तीव्रतर, उनमें तीव्र वैराग्य होनेपर योगी कुटीचक संन्यास लेय (जो संन्यासी चलने फिरनेमें अशक्त होनेके कारण एक ही तीर्थस्थान आदिमें कुटी बनाकर रहता है, प्रति दिन बारह सहस्र प्रणवका जप करता है तथा यथासमय भिक्षा करके आकर अपने आश्रममें ब्रह्मका ध्यान करता है उसको कुटीचक कहते हैं) ॥ ४ ॥ यदि वैराग्यवान् योगी, शरीरकी शक्तिवाला होय तो उसको बहूदक संन्यास ग्रहण करना चाहिये (तीर्थोंमें विचरने वाले योगीको बहूदक संन्यासी कहते हैं) तीव्रतर वैराग्य होजाय तो हंस नामक संन्यासको ग्रहण करना चाहिये, परन्तु यदि तीव्र-तर वैराग्यवाला पुरुष मोक्षकी इच्छा रखता हो तो उसको साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानके साधन-परमहंस संन्यास आश्रमको स्वीकार करना चाहिये ॥ ५ ॥ स्त्री-पुत्र-घर आदि का नाश होजाने पर-"इस संसारे को धिक्कार है" ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, उसको मन्द (अधम) वैराग्य कहते हैं ॥ ६ ॥ इस जन्ममें मुझको स्त्री पुत्र आदि कोई भी पदार्थ नहीं चाहिये, ऐसी जो अतिस्थिर बुद्धि है, उसको ही वैराग्य की तीव्रता या तीव्र वैराग्य कहते हैं ॥ ७ ॥ जहां जाकर फिर भी जन्म लेना पड़ता है, ऐसे किसी भी लोककी मुझको इच्छा नहीं है, ऐसी वृत्ति होनेसे तीव्रतर वैराग्य गिनाजाता है। मन्द वैराग्यमें किसी भी संन्यास आश्रमको धारण करनेका अधिकार नहीं है ॥ ८ ॥ यात्रा आदिके निमित्त विचरनेकी शक्ति तथा अशक्तिके कारण तीव्र वैराग्यमें क्रमसे कुटीचक तथा बहूदक नामवाले दो संन्यास धारण करने चाहियें, इन दोनों प्रकारके संन्यासियोंको त्रिदण्डी कहते हैं ॥ ९ ॥ तीव्रतर वैराग्यवाले योगीको यदि ब्रह्मलोक पानेकी इच्छा होय तो वह हंस नामक संन्यासको धारण करे, वह ब्रह्मलोक में आत्मसाक्षात्कार पाकर ब्रह्माके साथ मुक्ति पाता है और यदि उस

को केवल मोक्षकी ही इच्छा होय तो वह परमहंस संन्यासको स्वीकार करे, ऐसे पुरुषको वर्तमान शरीरमें ही आत्मसाक्षात्कार होजाता है ॥ १० ॥ इन सब संन्यासियोंके सदाचारका वर्णन भलीप्रकारसे पराशर स्मृतिमें किया है तथा उसके व्याख्यानमें मैंने भी लिखा है और इस ग्रन्थमें तो केवल परमहंसका ही वर्णन किया जायगा ॥ ११ ॥ परमहंस दो प्रकारके होते हैं-एक जिज्ञासु और दूसरे ज्ञानवान्, जिज्ञासुको ज्ञान पानेके लिये परमहंस आश्रम धारण करना चाहिये, ऐसा वाजसनेयि शाखाको पढ़नेवाले (बृहदारण्यक उपनिषद्में) कहते हैं ॥ १२ ॥ "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इस श्रुतिका अर्थ मन्दबुद्धि पुरुषोंके लिये हम नीचे गद्यमें लिखते हैं ॥ १३ ॥

आत्मलोक तथा अनात्मलोक, यह दो प्रकारके लोक हैं उनमें बृहदारण्यक उपनिषद्के तीसरे अध्यायमें अनात्मलोक तीनप्रकार का कहा है—

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति । सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणाः, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः ।

अर्थात्-मनुष्यलोक, पितृलोक तथा देवलोक ये तीन लोक हैं उनमें मनुष्यलोक पुत्रके द्वारा ही जीताजासक्ता है और किसी कर्मसे नहीं जीताजासक्ता, पितृलोक कर्मसे जीता जासक्ता है, पुत्र या विद्यासे नहीं और देवलोकको विद्या कहिये उपासनासे ही जीताजासक्ता है, पुत्र वा कर्मसे नहीं ।

उसही उपनिषद्के तीसरे अध्यायमें आत्मलोकका वर्णन भी किया है

यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति इति, आत्मानमेव लोकमुपासीत स आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते ॥

अर्थात्-जो पुरुष अपने स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश आत्माका प्रत्यक्ष किये विना इस मांस आदिके पिण्डरूप शरीरको छोड़जाता है, उस का न जानाहुआ आत्मा, शोक-मोह भय आदिसे उसकी रक्षा नहीं करता है, इसकारण आत्मलोककी ही उपासना करनी चाहिये जो आत्मारूप लोककी उपासना करता है उसके कर्मका क्षय नहीं होता है

बृहदारण्यक के छठे अध्यायमें भी कहा है कि—

किमर्थं वयमध्येष्यामहे किमर्थं वयं यक्ष्यामहे किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति, ये प्रजामीषिरे ते श्मशानानि भेजिरे, ये प्रजां नेषिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे।

अर्थात्-हम किस प्रयोजनसे अध्ययन करें ? किसलिये यज्ञ करें ? हम प्रजा (सन्तान) का क्या करेंगे ? क्योंकि हमको तो आत्मारूप फल प्राप्त हुआ है, जो सन्तानोंके स्वामी हुए उनको श्मशान मिला और जिन्होंने सन्तानकी इच्छा न करके आत्मसाक्षात्कार किया उन्होंने मोक्ष पाई है ।

इस कारण "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इस श्रुतिमें लोक शब्दसे आत्मलोकको ही कहना चाहा है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि-'स वा एष महानज आत्मा' इस श्रुतिमें कहेहुए आत्माका 'एतमेव इत्यादि' ऊपर कहीहुई श्रुतिमें 'एतत्' (यह) शब्दसे ग्रहण किया है, 'लोक्यते अनुभूयत इति लोकः' इस व्युत्पत्तिके नियमसे लोक पदका 'जिसका अनुभव कियाजाय' ऐसा अर्थ होता है, इस कारण "एतमेव इत्यादि" ऊपरकी श्रुतिका यह तात्पर्य निकलता है कि— 'जिसको आत्मस्वरूपके दर्शनकी इच्छा हो, वह संन्यास लेय । स्मृति भी कहती है—

ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः ।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥

अर्थात्-ब्रह्मके साक्षात्काररूप लाभके लिये शम-दम आदि साधनों से युक्त परमहंसनामका आश्रम है ।

इस जन्ममें या जन्मान्तरमें विधिपूर्वक कियेहुए वेदपठन आदि शुभ और नित्य कर्मोंके प्रभावसे उत्पन्न हुई विविदिषा (जाननेकी इच्छा) से पायाहुआ होनेके कारण इसको विविदिषा संन्यास कहते हैं, यह विविदिषा संन्यास ज्ञानका हेतु है । संन्यास दो प्रकारका है एक तो जन्मके कारण जो सकाम कर्म आदि हैं केवल उनको ही त्यागदेना और दूसरा प्रैषमन्त्रका उच्चारण करके दण्डधारण आदि आश्रमके चिन्होंवाला है ।

पुंजन्म लभते माता पत्नी च प्रैषमात्रतः ।
ब्रह्मनिष्ठः सुशीलश्च ज्ञानश्चैतत्प्रभावतः ॥

अर्थात्-केवल प्रैषमन्त्रके उच्चारणसे ही उस उच्चारण करनेवालेकी

माता तथा स्त्री पुरुषयोनिको प्राप्त होती है और वह अपने आप भी इस मंत्रके प्रभाव से ब्रह्मनिष्ठ, सुशील तथा ज्ञानवान् होजाता है।

पुनर्जन्म देनेवाले सकाम कर्मोंके त्यागरूप संन्यासका वर्णन तैत्तिरीय आदि उपनिषदोंमें किया है—

न कर्मणा प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥

अर्थात्–कितनेने कर्मसे वा धनसे मुक्ति नहीं पायी है, परन्तु त्याग से कितनोंने ही अमृतस्वरूप मोक्षको पाया है।

इस सकाम कर्मोंके त्यागरूप संन्यासमें स्त्रियोंको भी अधिकार है, क्योंकि–श्रुतिमें "भिक्षुकी" इस पदके आनेसे विवाहसे पहिले या विधवा होजानेके अनन्तर स्त्रियोंको भी संन्यासका अधिकार है, यह बात भगवती श्रुतिने ही दिखाई है, इसीकारण उनको भिक्षा के लिये जाना, मोक्षके उपयोगी शास्त्रोंको सुनना, एकान्त स्थल में आत्माका ध्यान करना और त्रिदण्ड आदि संन्यासके चिन्होंको धारण करना, यह बात महाभारतके मोक्षधर्मान्तर्गत सुलभा और जनकके सम्वादकी चतुर्धरी टीकामें स्पष्टरूपसे लिखी है। वेदान्त-दर्शनके शारीरक भाष्यमें (अध्याय ३ पाद ४ के ३६ वें सूत्र से ३८ वें पर्यन्त) वाचक्नवी आदि ब्रह्मवादिनी भिक्षुकी स्त्रियोंका वर्णन, देवता-धिकरणमें स्त्रीरहित पुरुषको विद्यामें अधिकारका प्रसङ्गवश लिखा है, इसीकारण ऐसा ही मैत्रेयी ब्राह्मणका वाक्य यहां दृष्टान्तरूपसे दिखाया है।

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवन् वेत्थ तदेव मे ब्रूहि।

अर्थात्—जिससे मुझको मोक्ष न मिले उस धनको लेकर मैं क्या करूं ? इसकारण हे ब्रह्मन् ! जिस मोक्षदायक वस्तुको तुम जानते हो, वही मुझसे कहो, ब्रह्मचारी गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ आश्रम वालोंको किसी निमित्तसे संन्यास आश्रमको धारण करनेमें कोई प्रतिबन्ध आपड़े तो, उनको अपने आश्रमके कर्तव्य कर्मोंका निर्वाह करतेहुए मानस संन्यास लेकर तत्त्वज्ञानको पानेमें कोई निषेध नहीं है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और विश्वमें ऐसे अनेकों दृष्टांत देखनेमें आते हैं। जिसमें दण्डधारण आदि करना पड़ता है ऐसा ज्ञानका साधन जो विविदिषा संन्यास है, उसके विषयमें पूर्वाचार्यों ने बहुत कुछ विचार कर छोड़ा है, इसकारण उसके विषयमें हम हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इसप्रकार विविदिषा संन्यासका संक्षिप्त वर्णन समाप्त हुआ।

अब विद्वत्संन्यासका वर्णन करते हैं।

जिन्होंने श्रवण मनन और निदिध्यासन करके तत्त्वसाक्षात्कार करलिया है उनके धारण कियेहुए संन्यासको भगवान् योगी याज्ञवल्क्यजीने, धारण किया था, जैसे कि-विद्वानोंके मुकुटमणि भगवान् याज्ञवल्क्यजीने विजिगीषुकी (१) कथामें अनेकों प्रकारसे तत्त्वनिरूपण करतेहुए आश्वलायन आदि ब्राह्मणोंको जीत कर, वीतरागकी (२) कथामें राजा जनकको संक्षेप तथा विस्तारके साथ अनेकों प्रकारसे ज्ञान कराकर, अपनी स्त्री मैत्रेयी जो कि-अधिकारीके सब लक्षणोंसे युक्त थी उसको उपदेश देनेकी इच्छा होनेपर उसको शीघ्र ही तत्त्वकी ओर लेजानेके लिये अपने आप ही कि हे ! अब मैं संन्यास धारण करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा की, फिर उसको बोध कराकर याज्ञवल्क्यजीने संन्यास धारण किया, यह दोनों बातें मैत्रेयी ब्राह्मणके आदि अंत में स्पष्ट रूपसे कही हैं। यथा—

अथ याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यःप्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि.

अर्थात्-गृहस्थाश्रमसे अन्य संन्यास आश्रमको धारण करने की इच्छासे मैत्रेयीको बुलाकर याज्ञवल्क्य मुनिने कहा कि-मैं इस गृहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यासको ग्रहण करना चाहता हूं।

इसप्रकार मैत्रेयी ब्राह्मणके प्रारम्भमें याज्ञवल्क्यजीने प्रतिज्ञा की है। तथा—

एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज।

अर्थात्-यही मोक्षका साधन है, इतना कहकर याज्ञवल्क्यजीने संन्यास धारण किया।

इसप्रकार मैत्रेयी ब्राह्मणके अन्तमें लिखा है, कहोल ब्राह्मणमें भी विद्वत्संन्यासका वर्णन है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाःपुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

अर्थात्-इसप्रकार उक्त प्रसिद्ध आत्माका साक्षात्कार करके ब्रह्मज्ञानी पुरुष, पुत्रैषणा (सन्तानकी तृष्णा) वित्तैषणा (धनकी चाहना)

(१) देखो बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय तीसरा।
(२) देखो बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय चौथा।

तथा लोकैषणा (प्रतिष्ठाकी इच्छा) से रहित होकर भिक्षाटन रूप संन्यास आश्रमको धारण करता है ।

यह वाक्य विविदिषासंन्यासको कहता है, ऐसी शंका नहीं करना क्योंकि-'विदित्वा' इस पदमेंके भूतकालीन 'क्त्वा' प्रत्ययका तथा ब्रह्मवेत्ताके वाचक 'ब्राह्मण' शब्दका बोध होजायगा इस वाक्यमें ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण जातिका वाचक नहीं है, क्योंकि-इस वाक्यके शेषभागमें पाण्डित्य, बाल्य तथा मौन इन शब्दोंके अर्थरूप श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनसे सिद्ध होनेवाले ब्रह्मसाक्षात्कारके अभिप्राय से ही 'अथ ब्राह्मणः' (तदनन्तर ब्रह्मज्ञानी होजाता है) ऐसा कहा है

शङ्का-तहां "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" (तिसकारण ब्राह्मण विधिपूर्वक श्रवणमें निपटकर मननमें स्थित होय) इस वाक्यसे श्रवण आदिमें प्रवृत्त होते हुए विविदिषा संन्यास वालेको भी ब्राह्मण कहा है (समाधान) 'आगेको ब्रह्मज्ञानीपना पाने वाला' ऐसा अर्थ लेकर पूर्वोक्त वाक्यमें ब्राह्मण शब्दका प्रयोग किया है । यदि ऐसा न होता तो भगवती श्रुति, 'अथ ब्राह्मणः' इस वाक्यमें श्रवण आदि साधनके आगेका समय बतानेवाले 'अथ' शब्दको क्यों कहती ? शारीर ब्राह्मणमें भी विविदिषा संन्यास तथा विद्वत्संन्यास का स्पष्ट वर्णन है—

एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ।

इस आत्माको जानकर ही मुनि होता है, इस संन्यासियोंके लोककी अर्थात् आत्माकी चाहना वाले पुरुष ही संन्यासी होते हैं इस वाक्यमें मुनिशब्दका अर्थ है 'मनन करनेवाला' परन्तु यह मनन करना जबतक कोई भी कर्तव्य शेष हो तबतक बन नहीं सकता अतः उससे संन्यास ही सूचित होता है, यह बात ऊपरके वाक्यमें शेष-भागमें स्पष्ट करदी है ।

एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः ।

अर्थात्-पहिले जो विद्वान् होगए हैं वे सन्तानकी इच्छा नहीं रखते थे, क्योंकि-वे जानते थे जिनको यह स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप प्राप्त होगया है ऐसे हम सन्तानको क्या करेंगे ? ।

ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

अर्थात्-वे पुत्रकी इच्छा,धनकी तृष्णा तथा लोकप्रतिष्ठाकी अभिलाषाको त्यागकर भिक्षाके लिये विचरते थे अर्थात् उन्होंने संन्यास धारण किया था।

इस श्रुतिमें 'अयं लोकः' इसका अर्थ होता है-जिसका साक्षात् अनुभव होगया है ऐसा यह आत्मा है,,

(शङ्का) 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' इस श्रुतिमें मुनिपनेकी प्राप्तिरूप फलका लोभ दिखाकर और उस फलके लिये विविदिषा संन्यासका विधान करके 'एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः' इस वाक्य शेषसे विविदिषा संन्यासको ही स्पष्ट किया है, इस कारण विविदिषा संन्यासके सिवाय और की कल्पना नहीं होसकती। (समाधान) 'विदित्वा मुनिर्भवति' ऐसा जो कहा है इससे ज्ञानकी साधनरूपता और मुनि होना उसका फल प्रतीत होता है, इस कारण विविदिषा संन्यासके द्वारा प्राप्त होनेवाले ज्ञानरूप फलके मिलजानेके अनन्तर विद्वत्संन्यासके द्वारा मुनि होजाना रूप फल मिलता है, वह बात ठीक ही है, (शङ्का) ज्ञानके ही एक प्रकारके परिपाकसे प्राप्त हुई एक प्रकारकी अवस्था ही मुनिपना है, इसकारण ज्ञानके द्वारा पूर्वसंन्यास कहिये विविदिषा संन्यासका ही फल मुनिपना है, वह विद्वत्संन्यासका फल नहीं है? (समाधान) यह बात ठीक है, इस कारण ही हम साधनरूप संन्याससे भिन्न फलरूप संन्यासको कहते हैं, जिस प्रकार विविदिषा संन्यासीको ज्ञानके लिये श्रवण मनन तथा निदिध्यासन करने चाहियें तैसे ही विद्वत्संन्यासीको भी जीवन्मुक्तिरूप उत्तम फलके लिये वासनाक्षय तथा मनोनाशका सम्पादन करना चाहिये, इस बातको आगे विस्तारके साथ लिखेंगे। (शङ्का) यदि विद्वत्संन्यास नामका कोई पृथक् संन्यास होता तो स्मृतिमें जो कुटीचक, बहूदक, हंस तथा परमहंस ये चार प्रकारके भिक्षु गिनाए हैं तहां पांच प्रकारके गिनवाने चाहिये थे? (समाधान)-यद्यपि विविदिषा संन्यास और विद्वत्संन्यासमें परस्पर भेद है तथापि दोनों को परमहंसके अन्तर्गत मानकर स्मृतिमें चार ही प्रकारके भिक्षुक हैं।

दोनोंके परमहंसपनेको जाबाल उपनिषद्की श्रुति भी बताती है।

जाबाल उपनिषद्में राजा जनकने संन्यासके विषयमें प्रश्न किया तब याज्ञवल्क्यजीने संन्यास आश्रमके अधिकारको दिखाकर आगे को साधना करने योग्य कर्त्तव्य-सहित विविदिषा संन्यासका वर्णन किया, उसको सुनकर भगवान् अत्रिमुनिने कहा कि-यज्ञोपवीतको

त्यागनेसे ब्राह्मणत्व जाता रहेगा, और ऐसा होनेसे उपनिषद् विचार में अधिकार भी नहीं रहेगा, तब याज्ञवल्क्यजीने यह कहकर समाधान किया कि-'आत्मज्ञान ही उन संन्यासियोंका यज्ञोपवीत है, इस कारण बाहरी यज्ञोपवीतके अभावसे विविदिषा-संन्यासवालोंका परमहंसपना निश्चित होता है। इसीप्रकार इस ही उपनिषद्की अन्य कण्डिका-"परमहंसो नाम" यहांसे प्रारम्भ करके संवर्त्तक आदि बहुतसे ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्तोंके नाम लेकर ये सब अव्यक्तलिङ्ग कहिये जिनका आश्रम आदि जतानेवाला कोई चिन्ह न दीखता हो ऐसे अव्यक्ताचार कहिये अप्रकट आचरणवाले और उन्मत्त न होकर भी उन्मत्तकी समान आचरण करने वाले हैं, ऐसा कहकर विद्वत्संन्यासियोंको दिखाया है, तैसे ही—

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत्सर्वं,भूः स्वाह इत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ।

अर्थात्-त्रिदण्ड, कमण्डलु, छींका (झोली), पात्र, पानी छानने का वस्त्र, शिखा और यज्ञोपवीत, इन सबको 'भूः स्वाहा' इस मंत्र का उच्चारण करता हुआ जलमें छोड़कर आत्मज्ञानकी खोज करे।

इस वाक्यसे त्रिदण्डी संन्यासीके लिये एक दण्डको धारण करना रूप विविदिषा संन्यासका विधान करके उसके फलरूप विद्वत्संन्यासका ही उदाहरण दिया है,

यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्व ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नःशुद्धमानसःप्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्ष्यमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ कृत्वा शून्यागारे देवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रनदीपुलिनगिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणाध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स एव परमहंसो नाम ।

अर्थात्--जैसा जन्मा तैसा ही (नङ्गा) सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंके लगावसे रहित, किसी वस्तुका संग्रह न करनेवाला, ब्रह्ममार्गमें सच्ची निष्ठाको प्राप्त हुआ, शुद्धमन, प्राणधारणके लिये उचित समय पर आसनसे उठकर पेटरूप पात्रके द्वारा ही भिक्षा करता हुआ, भिक्षाके मिलने पर वा न मिलने पर भी एकसी वृत्ति रखनेवाला, शून्य स्थान देवमंदिर, तृणोंका ढेर, वमई, वृक्षकी जड़, कुम्हारका घर, अग्नि-

शाला, नदीका किनारा, पर्वतकी गुफा, झरनेके समीपका स्थान, और स्थंडिल (मैदान) इन स्थानोंमें विचरनेवाला, एक ही स्थान पर न रहनेवाला, प्रयत्नरहित, शुद्ध परमात्माके ध्यानमें तत्पर, आत्मनिष्ठावाला और शुभ तथा अशुभ कर्मोंका नाश करनेमें तत्पर हुआ जो पुरुष संन्यासके द्वारा शरीरको त्यागता है उसका ही नाम परमहंस है।

इसप्रकार इन दोनों आश्रमोंका परमहंसपना सिद्ध है, परमहंसत्व धर्मसे दोनोंके एक समान होने पर भी इनमें परस्पर विरुद्ध धर्म होनेके कारण कुछ भेद भी अवश्य मानना पड़ेगा इनके विरुद्ध धर्मोंका ज्ञान आरुणि उपनिषद् और परमहंसोपनिषद्को देखनेसे होता है आरुणि उपनिषद्में इसप्रकार लिखा है कि—'केन भगवन् कर्माण्यशेषतो विसृजामि" अर्थात् हे भगवन् ! मैं सब कर्मोंका त्याग क्यों करूं ?, इसप्रकार जब आरुणिके शिष्यने स्वाध्याय गायत्रीका जप आदि सब कर्मोंके त्यागरूप विविदिषा संन्यासके विषयमें प्रश्न किया तब गुरु प्रजापतिने "शिखां यज्ञोपवीतम्" इत्यादि पूर्वोक्त वचनसे सबका त्याग कहकर तथा 'दण्डमाच्छादनं कौपीनं च परिग्रहेत्' अर्थात्-दण्ड, ओढ़नेका वस्त्र और कौपीनको ग्रहण करै, इसप्रकार दण्ड आदिके ग्रहण करनेका विधान करके "त्रिसन्ध्यादौ स्नानमाचरेत्, सन्ध्यां समाधावात्मन्याचरेत्, सर्वेषु वेदेष्वारण्यमावर्त्तयेत्, उपनिषदमावर्त्तयेत्" अर्थात् प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सायङ्काल इन तीनों समयमें स्नान करै, संधिके समय समाधि लगा कर आत्मस्वरूपका विचार करे, वेदोंमें आरण्यक तथा उपनिषद् भागकी आवृत्ति करै, इसप्रकार ज्ञानके कारणरूप आश्रमधर्मको कर्त्तव्यरूपसे कहा है।

परमहंस योगीका मार्ग कौनसा है ? इसप्रकार जाबालोपनिषद्में विद्वत्संन्यासके विषयमें भगवान् नारदजीके प्रश्न करने पर गुरु प्रजापतिने 'स्वपुत्रमित्र० इत्यादि, आगे कहे जानेवाले वाक्यसे पहिलेकी समान सबका त्याग कहकर 'कौपीनं दण्डमाच्छादनञ्च स्वशरीरोपभोगार्थाय च परिग्रहेत्" अर्थात् कौपीन दण्ड तथा ओढनेके वस्त्रको अपने शरीरके निर्वाहके निमित्त एवं लोकके कल्याणके निमित्त ग्रहण करै। इस वाक्यसे सिद्ध होता है कि-दण्ड आदिका धारण करना कोई शास्त्रमें कहा हुआ मुख्य कार्य नहीं है, किन्तु लौकिक व्यवहार है, यह उत्तर दिया। इस पर नारदजीने फिर प्रश्न किया कि-विद्व-

त्संन्यासीका मुख्य धर्म क्या है? तब इसके उत्तरमें प्रजापतिने यह कहा कि—"न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसः" अर्थात्-परमहंस दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन आच्छादन आदिको धारण नहीं करता है। इसप्रकार दण्डादि चिन्ह न होना शास्त्रोक्त है, ऐसा कहकर—"न शीतं न चोष्णं आशाम्बरो निर्नमस्कारः" अर्थात् उसको सरदी गरमी आदि द्वन्द्वधर्म बाधा नहीं देते हैं, वह दिशारूपी वस्त्रोंको धारण करना है, किसीकी स्तुति वा किसको नमस्कार आदि नहीं करता है, इत्यादि वचनोंसे उसकी लोकसे विलक्षणता जतानेके अनन्तर "यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति" अर्थात्—जो पूर्ण, आनन्दघन तथा बोधरूप है, वह ब्रह्म मैं हूँ, ऐसे ज्ञानसे कृतार्थ होजाता है। इतने ग्रन्थसे जीवन्मुक्त योगीका परम कर्त्तव्य केवल ब्रह्मानुभवमें ही पूर्वोक्त उपनिषदोंने बताया है, इसलिये विविदिषा संन्यास तथा विद्वत्संन्यासमें परस्पर विरुद्ध धर्म होनेके कारण उनमें परस्पर बड़ा भारी भेद है।

स्मृतियोंमें भी यह भेद कहा है, उसको देखना चाहिये-

संसारमेवं निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः॥ १॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥ २॥

अर्थात्—इस प्रकार संसारको असार देखकर सार वस्तु परमात्माके दर्शनकी इच्छासे गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करनेसे पहिले ही परम वैराग्यवान् अधिकारी पुरुष संन्यासको ग्रहण करते हैं॥ १॥ कर्मयोग प्रवृत्तिरूप है तथा ज्ञानका साधन संन्यास है इसलिये ज्ञानको ही मुख्य समझकर उसको पानेके लिये बुद्धिमान् पुरुष इस जगत्में संन्यासको धारण करता है॥ २॥

इत्यादि विविदिषासंन्यासका स्वरूप है।

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्॥ १॥
ज्ञात्वा सम्यक् परं ब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परिव्रजेत्।

अर्थात्—जिसको सनातन परब्रह्मका साक्षात्कार होगया हो वह एक दण्डको धारण करके यज्ञोपवीतसहित शिखाका त्याग कर

देय, भलेप्रकार परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करलेने पर सबको त्यागकर चला जाय, इत्यादि वाक्य विद्वत्संन्यासका वर्णन करते हैं।

शङ्का--जैसे लोग शिल्पादि कलारूप विद्याओंमें कौतुकसे प्रवृत्त होते हैं वैसे ही अध्यात्मशास्त्रमें भी कितनों ही को कौतुकसे प्रवृत्ति करनेकी इच्छा होसकती है, तथा विद्याविचारशून्य होकर भी अपने को पण्डित माननेवाले ब्रह्मके साधारण ज्ञानवालोंमें भी विद्वत्ता देखने में आती है परन्तु यह दोनों संन्यासी होते देखनेमें नहीं आते, अतः विविदिषा और विद्वत्ता पूर्वोक्त दोनों संन्यासोंमें कैसी होनी चाहिये ? । (उत्तर)—जैसे अत्यन्त भूख लगने पर भूखे पुरुषको भोजनके सिवाय और व्यापार अच्छा नहीं लगता है तथा भोजनमें विलम्ब भी नहीं सहा जाता है और जब जन्म देनेवाले कर्मोंमें अत्यंत अरुचि तथा ज्ञानके साधन श्रवण मनन आदिमें अत्यंत उत्कण्ठा उत्पन्न हो तब ही विविदिषा संन्यास ग्रहण करना चाहिये विविदिषा संन्यासकी अवधि भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने उपदेशसाहस्रीमें यों कही है ।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥ १ ॥

अर्थात्—जैसे अज्ञानीको देहमें ही आत्मज्ञान होता है वैसे ही देहात्मज्ञानको दूर करनेवाला ज्ञान जिसको अपने स्वरूपमें ही होगया हो, वह पुरुष मुक्त होनेकी इच्छा न करता हुआ भी मुक्त होजाता है, श्रुति भी कहती है कि-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात्--पर कहिये हिरण्यगर्भ आदि पद जिससे नीची कोटि का भोग है ऐसे परमात्माका साक्षात्कार होने के अनन्तर इस अधिकारी पुरुषोंको जो अनादि अविद्याकी रची बुद्धिमें साक्षीके तद्रूप होनेका अध्यास है,वह अत्यन्त जमा हुआ होनेके कारण हृदय की गांठ कहलाती है—वह दूर होजाती है । आत्मा साक्षी है ? या कर्त्ता है ? यदि सबका साक्षी हो तब भी वह ब्रह्मरूप है या नहीं और यदि ब्रह्मरूप भी हो तो वह ब्रह्मबुद्धिसे जानाजासकता है या नहीं ? यदि जानाजासकता हो तो भी उसके केवल ज्ञानमात्रसे मुक्ति होसकती है या नहीं ? इत्यादि सन्देह तथा प्रारब्धको छोड़

कर होनेहार जन्मोंके हेतुभूत कर्म, ये सब अविद्याका कार्य होनेके कारण आत्मदर्शनसे नष्ट होजाते हैं, श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही बात मिलती है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अर्थात्-जिस ब्रह्मज्ञानी पुरुषका भाव कर्तृत्व सत्तास्वभावरूप आत्मा अहङ्कारके कारण भीतर तादात्म्याध्याससे टपका हुआ नहीं है, तथा जिसकी बुद्धि संशयरूप लेपसे रहित निर्लेप है, वह पुरुष इन लोकों का अर्थात् त्रिलोकीका वध करके भी बन्धनमें नहीं पड़ता है फिर और कर्मोंकी बातका तो कहना ही क्या ?

शङ्का-विविदिषा संन्यासके फलरूप तत्त्वज्ञानसे ही आगामी (आगेको होनेवाला) जन्म दूर होसकता है तथा वर्तमान जन्मके शेष रहेहुए प्रारब्ध कर्मोंका भोगके विना नाश नहीं होसकता, फिर इस विद्वत्संन्यासके लिये परिश्रम करनेकी क्या आवश्यकता है ?

(उत्तर)-विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्ति रूप महाफलके लिये है, जैसे ज्ञानके लिये विविदिषासंन्यासका ग्रहण करनेकी आवश्यकता है तैसे ही जीवन्मुक्तिके लिये विद्वत्संन्यासको सिद्ध करनेकी आवश्यकता है ॥ इसप्रकार विद्वत्संन्यासका वर्णन समाप्त हुआ ॥

अब यह जीवन्मुक्ति क्या वस्तु है ? इसके होनेमें क्या प्रमाण है ? उसकी सिद्धि किसप्रकार होसकती है ? और उसके सिद्ध होजाने पर कौनसा प्रयोजन सधता है ? ऐसी शङ्का करनेवालेके लिये कहते हैं। उसमें पहिले प्रश्नका उत्तर यह है कि-जीवित पुरुषके कर्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःख इत्यादि अन्तःकरणके धर्म क्लेश उपजाने वाले होनेके कारण बंधनरूप होते हैं, इन क्लेशरूप चित्तके धर्मोंको दूर करनेका नाम ही जीवन्मुक्ति है । इस पर शङ्का होसकती है कि-तुम इस बन्धनको साक्षीमें से दूर करते हो या चित्तमेंसे ? यदि कहो कि-साक्षीमेंसे तो यह बात हो नहीं सकती, क्योंकि विविदिषासंन्यासमें ही तत्त्वज्ञानसे पहिले ही साक्षीमेंसे भ्रान्तिरूप बंधन दूर होचुका है। यदि कहो कि-चित्तमें कर्तापन भोक्तापन आदि बंधनको दूर करते हैं तो यह बात भी नहीं बनसकती क्योंकि—कर्तापना, भोक्तापना और सुख दुःख आदि अंतःकरणके स्वाभाविक धर्म हैं । यदि कोई जलके द्रवत्वरूप धर्मका और अग्निके उष्णत्वरूप धर्मका नाश करसके तब ही अंतःकरण

मेंके कर्त्तापन आदि धर्मोंका दूर होना बन सकता है। क्योंकि-जबतक धर्मी रहेगा तबतक उसके स्वाभाविक धर्मोंका नाश कदापि नहीं होसकता। इसका समाधान यह है कि-स्वाभाविक धर्मोंका निःशेष (जड़मूलसे) नाश नहीं होसकता, यह बात ठीक है, परन्तु उसका अभिभव अर्थात् दबजाना अशक्य नहीं है, जैसे जलमें रहने वाले द्रवत्व (प्रवाहीपने) को जलमें मृत्तिका मिलानेसे रोका जासकता है तथा अग्निमेंकी उष्णताको चन्द्रकान्त मणि मंत्र औषध आदिसे बन्द कर दिया जासकता है,तैसे ही योगाभ्याससे चित्तकी सकल वृत्तियों को दबादेना बनसकता है। इसपर भी यह शंका होती है कि-प्रारब्ध कर्म,कार्यसहित सम्पूर्ण अविद्याका नाश करनेके लिये प्रवृत्त हुए,तत्त्वज्ञानको रोककर,अपने फलको प्राप्त कराने के लिये देह इन्द्रियोंदिको को जगादेता है, क्योंकि-चित्तकी वृत्तियोंके विना, प्रारब्धके फलरूप सुख दुःख आदिका भोग नहीं होसकता। अतः योगाभ्याससे अन्तःकरणकी वृत्तियोंका दबना कैसे बनसकेगा ?। इसका समाधान यह है कि-अन्तःकरणकी वृत्तियोंका निरोध होनेसे जीवन्मुक्ति सिद्ध होजाती है और यह जीवन्मुक्ति उत्तम प्रकारका सुख है, इसकारण और सुखों के साथ इस सुखको भी प्रारब्ध कर्मका ही फल मानना चाहिये। यहां यह शंका होती है कि-जैसे उद्योग बिना किये ही प्रारब्ध कर्म उचित समय पर अपने सुख-दुःख-रूप फलका भोग जीवोंको देता है, तैसे ही वह प्रारब्ध कर्म ही जीवन्मुक्तिका सुख भी योग्य समय पर जीवोंको देदेगा, उसके लिये उद्योग करनेकी क्या आवश्यकता है ?। इसका समाधान यह है कि--यह तुम्हारा प्रश्न केवल हमारे ही ऊपर नहीं होसकता है किन्तु अन्न उपजाने के लिये जो किसान खेती करते हैं उनके ऊपर भी होसकता है,क्यों कि--उनको भी उनका प्रारब्ध कर्म ही अन्न आदिकी प्राप्तिरूप फल देदेगा, फिर वह उद्योग क्यों करते हैं ? प्रारब्धवादी इसका यह उत्तर देता है कि-कर्म अदृष्ट हैं अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसकारण वह दृष्ट कहिये प्रत्यक्ष साधनकी सामग्रीके विना कोई फल नहीं दे सकते, इसकारण अन्न आदि फल पानेके लिये तिस खेतीके साधन आदि प्रत्यक्ष सामग्रीकी आवश्यकता है, परन्तु जीवन्मुक्तिके लिये प्रयास करनेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

इसपर सिद्धान्ती कहता है कि--अदृष्ट होनेसे जीवन्मुक्तिरूप सुख भी प्रत्यक्ष साधन-सामग्रीके विना प्राप्त नहीं होसकता, किसी समय

कृषिआदि कर्मका फल मिलता न दीखे तो उसमें वर्त्तमान उद्योग की अपेक्षा अधिक बलवान् किसी अन्य प्रतिबंधक कर्मसे फल मिलने में रुकावट होनेका अनुमान करलेना चाहिये । वह अधिक बलवान् प्रतिबंधक कर्म भी दृष्ट (प्रत्यक्ष) सामग्रीके बिना अन्न आदि फलको नहीं रोकसकता, परन्तु अपने अनुकूल वृष्टि न होनारूप दृष्ट सामग्री से रुकावट करदेता है । वह रुकावट भी अपने विरोधी अतिप्रबल कारीरी इष्टि (१) आदि उत्तम्भक (प्रतिबंधका भी प्रतिबन्ध करनेवाले) कर्मसे नाशको प्राप्त होता है. वह भी आप ही प्रतिबन्धको न हटाकर वर्षा आदि प्रत्यक्ष सामग्रीके द्वारा उसको निवारण करता है । इसी प्रकार हे प्रारब्धवादिन्! जो श्रेष्ठ प्रारब्ध जीवन्मुक्ति-सुखका हेतु है, वह स्वयं ही उसको नहीं उपजाता है किन्तु योगाभ्यासरूप पुरुषके प्रयत्न के द्वारा उपजाता है, इसकारण प्रारब्धकी परमभक्ति करनेवाले तुमको योगाभ्यासरूप पुरुषार्थकी निष्फलताका मनमें तनिक भी विचार न करना चाहिये अथवा तुम अपनी समझके अनुसार जैसे प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानसे प्रबल है तैसे ही योगाभ्यास प्रारब्ध कर्मसे भी अधिक बलवान् है, ऐसा मान लो। अतएव उद्दालक मुनि और वीतहव्य आदि योगी महात्माओंने अपनी इच्छानुसार शरीरका त्याग किया है सो उचित ही है ।

यद्यपि थोड़ी आयुवाले हम उद्दालक आदि महात्माओंकी समान योग साधन नहीं करसकते, तथापि काम आदि चित्तकी वृत्तियोंको रोकनारूप योगको साधनेमें कौनसा बड़ा परिश्रम है?

यदि तुम शास्त्रीय पुरुषार्थको प्रारब्ध कर्मसे अधिक बलवान् नहीं मानोगे तो चिकित्सा (वैद्यक) शास्त्रसे लेकर मोक्षशास्त्र पर्यन्त लौकिक अलौकिक सुखकी प्राप्तिके मार्ग बतानेवाले सब ही शास्त्र व्यर्थ ठहरेंगे । एकबार कदाचित् पुरुषार्थका फल न होय तो उससे सब पुरुषार्थों पर निष्फलताका दोष लगाना विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें किसीप्रकार भी उचित नहीं गिनाजासकता । यदि एकबार पुरुषार्थ के निष्फल होजानेसे वह सदा निष्फल ही मानाजाय तो किसी राजाके एकबार शत्रुसे हारजानेपर फिर उसको सेना आदि युद्धकी सामग्रीका त्याग ही कर देना चाहिये। परन्तु किसी भी राजाने आज तक ऐसा किया हो यह बात देखनेमें या सुननेमें नहीं आई ।

नह्यजीर्णभयादाहारपरित्यागः, भिक्षुकभयाद्वा स्थाल्य-

(१) वर्षा न होनेपर उसके लिये जो किया जाता है वह यज्ञ ।

न भिक्षुकभयात् स्थाल्या अनधिश्रयणम् । न यूकाभयाद्वा प्रावरणपरित्यागः ।

अर्थात्-अजीर्ण होजानेके भयसे कोई भोजन करना नहीं छोड़ता है भिक्षुकोंके भयसे कोई रसोई न करे यह बात नहीं बनसकती, अथवा जुओंके भयसे कोई वस्त्रको नहीं छोड़देता है। शास्त्रीय पुरुषार्थकी प्रबलता श्रीयोगवाशिष्ठ रामायणमें श्रीवशिष्ठजी और श्रीरामचन्द्रजी के सम्वादसे स्पष्ट प्रतीत होती है. श्रीवशिष्ठजी कहते हैं कि-

सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ।

सम्यक् प्रयत्नात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥

हे रघुनन्दन ! इस संसारमें शास्त्रकी विधिके अनुसार किये हुए पुत्रकामेष्टि, खेती, व्यापार ज्योतिष्टोम, ब्रह्मोपासना आदि पुरुषार्थसे पुत्र, धन, स्वर्ग, आदि सब फल मिल सकते हैं ।

उच्छास्त्रं शास्त्रितञ्चेति, पौरुषं द्विविधं स्मृतम् ।

तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥

पराया धन हरना और परस्त्रीगमन करना आदि शास्त्रविरुद्ध पुरुषार्थ है, तथा नित्य नैमित्तिक आदि सत्कर्मोंका अनुष्ठानरूप शास्त्रोक्त पुरुषार्थ है, ऐसे दो प्रकारका पुरुषार्थ है उसमें शास्त्रविरुद्ध पुरुषार्थ नरक आदि अनर्थ फल देता है और शास्त्रके अनुसार सत्कर्मका अनुष्ठानरूप पुरुषार्थ मोक्षरूप परमार्थ फल देता है ॥

आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः ।

गुणैः पुरुषयत्नेन सोऽर्थः सम्पाद्यते हितः ॥

बालक अवस्थासे ही यथाविधि सेवन किये हुए सत् शास्त्रके श्रवण सत्सङ्ग आदि शुभगुणों वाले पुरुषार्थसे श्रेयरूप हितकारी पदार्थकी प्राप्ति होती है । श्रीरामचन्द्रजी प्रश्न करते हैं कि-

प्राक्तनं वासनाजालं, नियोजयति मां यथा ।

मुने तथैव तिष्ठामि, कृपणः किं करोम्यहम् ॥

जीवके धर्म अधर्म रूप संस्कार जो वासना नामसे प्रसिद्ध हैं वे जिसप्रकार मुझे प्रेरणा करते हैं उसी प्रकार मैं रहता हूँ । हे मुने ! मैं दीन स्वतन्त्रतासे क्या कर सकता हूँ ? । श्रीवशिष्ठजी कहते हैं कि-

अत एव हि हे राम श्रेयः प्राप्नोषि शाश्वतम् ।

स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नान्यथा ॥

हे राम ! तुम वासनाजालके वशमें हो इसकारण ही परतंत्रतासे

छूटनेके लिये स्वयं उत्साहके साथ लगेहुए, मन, वाणी तथा शरीर के पुरुषार्थसे मोक्षरूप अविनाशी सुखको पाते हो।

द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभश्च ते।
प्राक्तनो विद्यते राम द्वयोरेकतरोऽथवा॥

तुममें शुभ और अशुभ दो प्रकारकी वासनाओंका समूह है, क्या वे दोनों तुमको प्रेरणा करते हैं?यदि कहो कि-दोनों एक साथ प्रेरणा नहीं करसकते तो बताओ कि-शुभ वासनाओंका समूह प्रेरणा करता है या अशुभ वासनाओंका समूह प्रेरणा करता है?

वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदपनीयसे।
तत्क्रमेणाशु तेनैव पदं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

उन दोनोंमेंसे यदि शुभवासनाएं तुमको दौड़ाती हों तो उन शुभवासनाओंकी प्रेरणासे प्राप्त हुए शुभ आचरणसे ही क्रमशः शाश्वत पद मोक्षको पाजाओगे।

अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति सङ्कटे।
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता स्वयम्॥

और यदि पहली अशुभ वासनाएं तुमको सङ्कटमें डालती हों (तुम से अशुभ काम कराती हों) तो अशुभ वासनाओंको रोकनेवाली शुभ वासनारूप शास्त्रोक्त धर्मोके अनुष्ठानसे तुम स्वयं उनको जीत लो, यह तुम्हारा कर्त्तव्य है।

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥

अर्थात्—पुरुष शुभ तथा अशुभ मार्गसे बहती हुई वासनारूपनदी के प्रवाहको उद्योग करके शुभ मार्गकी ओरको लेजाय अर्थात् अशुभवासनारूप अधर्माचरणको त्यागकर उसके स्थानमें शास्त्रमें कही हुई रीति से सद्धर्मका आचरण करै।

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर॥

अर्थात्-हे बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी। परस्त्री, परधन आदि में घुसेहुए अपने मनको प्रबल प्रयत्नसे पीछेको लौटाकर शुभमार्ग कहिये शास्त्रविचार और इष्टदेवताके ध्यान आदिमें लगावै।

अशुभाच्चालितं याति शुभं तस्मादपीतरत् ।
जन्तोश्चित्तन्तु शिशुवत्तस्मात्तच्चालयेद्बलात् ॥

अर्थात्-जीवोंका चित्त बालकका समान अशुभमेंसे हटाया हुआ शुभकी ओरको जाता है तथा शुभमेंसे अशुभम प्रवेश करता है, इस कारण मनको बलात्कार करके अशुभाचरणकी ओरसे लौटाना चाहिये ।

जैसे कोई बालक मट्टी खाता हो तो उसके हाथमें फल देकर उस को मट्टी खानेसे रोकाजाता है तथा मणि मुक्ताफल आदि मूल्यवान् वस्तुओंको खेंचकर नष्ट करता हो तो उसके हाथमें गेंद आदि देकर उससे मणिमुक्ता आदि पदार्थ ले लिये जाते हैं, इसप्रकार ही चित्त-रूपी बालकको भी सत्संगके द्वारा दुःसङ्गसे हटाकर दुराचरणोंसे बचाया जासकता है ।

समतासान्त्वनेनाशु न द्रागिति शनैः शनैः ।
पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम् ॥

अर्थात-शत्रु मित्र आदिमें समान दृष्टि रखनारूप सान्त्वनसे चित्त-नामक बालक शीघ्र ही वशमें होजाता है, दूसरे उपायोंसे ऐसा शीघ्र वशमें नहीं होता, किन्तु धीरे धीरे वशमें होता है ।

एक चपल पशुको उसके बांधनेके स्थानमें लेजानेके लिये दो उपाय होते हैं, एक तो हरी २ घास दिखाना या उसको खुजलाना आदि और दूसरा उसको ललकारना तथा दंडसे ताडन करना आदि । इन दोनों मेंसे पहले उपायसे वह पशु शीघ्र ही अपने स्थानमेंको चलाजाता है और दूसरे उपायसे इधर उधरको भागते २ बड़ा परिश्रम करने पर शनैः २ अपने बन्धनस्थानमें प्रवेश करता है । इस प्रकार ही चित्तरूप पशुसे अपनी इच्छानुसार वर्त्ताव करवानेके भी दो उपाय हैं, एक तो शत्रु मित्र आदिमें समानभाव रखना आदि कोमल उपाय और दूसरा प्राणायाम प्रत्याहार आदि कठिन उपाय, इनमें कोमल उपाय से चित्त शीघ्र ही वशमें होजाता है और दूसरे हठयोगसे शीघ्र वश में न होकर धीरे २ चिरकालमें वशमें होता है ।

द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् ।
तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥

अर्थात्—कोमल योगाभ्याससे जब तुम्हारे चित्तमें शुभ वासना स्वभावसे ही उदय होजाय तब हे शत्रुमर्दन ! तुम अपने अभ्यासको

सफल हुआ समझो। थोड़े कालमें काम सिद्ध न होनेसे यह सन्देह न करो कि शुभ वासना सिद्ध नहीं होगी।

सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर।
शुभायां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन॥

अर्थात्—शुभ वासनाका अभ्यास सिद्ध हुआ है या नहीं ऐसा सन्देह होने पर्यन्त श्रेष्ठ वासनाओंका ही अभ्यास करो, क्योंकि—हे तात! यदि शुभ वासना बढ़ भी जायँगी तो दोष नहीं है।

जैसे सहस्र जप करनेको बैठेहुए पुरुषको यदि इस बातका संदेह होजाय कि-न जाने मैंने दशवीं माला जपी है या नहीं, तो उसको फिर सौ बार जप करना चाहिये, ऐसा करने पर यदि सहस्र जप पूरा नहीं हुआ होगा तो पूरा होजायगा और यदि पूरा होगया होगा तो अधिक जप होजानेसे सहस्र संख्यामें कोई दोष नहीं आवेगा। इस प्रकार ही श्रेष्ठ वासनाओंका अधिक अभ्यास करनेमें कोई हानि नहीं है, किन्तु श्रेष्ठ वासनाओंकी दृढ़ता ही होती है।

अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना।
यदति शुभमार्यसेवितं तच्छुभमनुसृत्य मनोज्ञभावबुद्ध्या।
अधिगमय पदं यदद्वितीयं तदनु तदप्यवमुच्य साधु तिष्ठ।

अर्थात्—जबतक तुझको ज्ञानका उदय होकर परमात्म-स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता है तबतक गुरुके उपदेश तथा शास्त्रके प्रमाण से निर्णय कीहुई शुभवासनाओंका अभ्यास कर। ऐसा करने पर जिसके अन्तःकरणके मल नष्ट होगये हैं तथा जिसको आत्मसाक्षात्कार होगया है वह सब वृत्तियोंको रोकनेके अभ्यासमें लग कर शुभ वासनाओंका अभ्यास भी त्यागदेय। जो शुभ फल देनेवाले तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके सेवन किये हुए हैं,उन शुभ आचरणोंके अनुसार शुद्ध हुई बुद्धिसे तुम उस अद्वितीय पदको प्राप्त करो। फिर उस शुभ अभ्यासको भी त्यागकर भली प्रकारसे स्वरूपमें स्थिर होजाओ।

इसप्रकार योगाभ्याससे कामादि वृत्तियोंको दबाया जासकता है इसलिये जीवन्मुक्तिके लिये विवाद नहीं करना चाहिये।

इति जीवन्मुक्तिस्वरूप-निरूपणम्।

जीवन्मुक्ति होनेमें श्रुति और स्मृतियोंके वाक्य प्रमाण हैं। कठवल्ली आदिमें लिखा है कि-"विमुक्तश्च विमुच्यते" जीवितदशामें ही काम आदि प्रत्यक्ष बन्धनोंसे छूटता हुआ शरीरपात होनेपर होनहार बन्धनसे भी विशेषरूपसे मुक्त होजाता है। यद्यपि ज्ञान होनेसे पहले भी यदि शम दम आदि साधनोंको ठीक कर लेय तो अधिकारी मुमुक्षु पुरुष काम आदिसे छूट ही जाता है। तथापि उस समय यदि काम आदि उत्पन्न होने लगें, तो उनको रोकनेके लिये विशेष उद्योग करना पड़ता है और इस जीवन्मुक्त दशामें तो अन्तःकरणकी वृत्तियोंके दबजानेसे काम आदि वृत्तियें उठ ही नहीं सकतीं इसलिये वह विशेषरूपसे मुक्त होजाता है, ऐसा श्रुति कहती है तथा प्रलय कालमें शरीरपात होनेपर कुछ नियतकाल पर्यन्त भावी देहबन्धन से मुक्त रहता है और विदेहमुक्ति होजाने पर तो ऐसी आत्यन्तिक मुक्ति होती है-कि फिर बन्धन होता ही नहीं इसलिये श्रुतिने "विमुच्यते" विशेषरूपसे मुक्त होता है, ऐसा कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद्में भी कहा है कि—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

जब इस अधिकारी पुरुषके हृदयमें रहनेवाली कामनायें दूर होजाती हैं, तब वह पुरुष पहिले अज्ञानदशामें मरणधर्म वाला होता हुआ भी अब अमृत कहिये मरणरहित होजाता है और जीवितदशामें ही मुक्तिको पाजाता है। दूसरी श्रुतिमें भी कहा है कि-

अचक्षुश्चक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव।

जीवन्मुक्तपुरुष नेत्रवाला होनेपर भी नेत्ररहित सा, कानों वाला होनेपर भी कर्णरहित सा, मन वाला होनेपर भी मनरहित सा होता है अर्थात् उसकी वृत्तियें इन्द्रियोंके द्वारा बाहरके विषयोंमेंको नहीं जाती हैं, इसलिये वह इंद्रियोंवाला होकर भी इंद्रियरहित सा प्रतीत होता है, इसीप्रकार और श्रुतियोंका भी उदाहरण देख लेना चाहिये। स्मृतियोंमें जहां तहां जीवन्मुक्त पुरुषको जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ भगवद्भक्त गुणातीत ब्राह्मण अतिवर्णाश्रमी आदि नामोंसे कहा है। योगवाशिष्ठके वशिष्ठराम-सम्वादमें 'नृणां ज्ञानैकनिष्ठानाम्' यहांसे लेकर 'सत्किंचिदवशिष्यते' यहांतक जीवन्मुक्तकी अवस्था कही है वशिष्ठजी कहते हैं कि-

नृणां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्तितोदेति विदेहोन्मुक्ततेव या ॥

जो लौकिक और वैदिक कर्मोंको त्यागकर केवल ज्ञाननिष्ठ होतेहुए आत्मविचार ही करते रहते हैं उनको जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है, जो कि-विदेहमुक्त दशाकी समान है, जीवन्मुक्त और विदेहमुक्तिमें इतना ही अन्तर है कि-जीवन्मुक्त पुरुषकी देह इंद्रिय आदि दूसरों की दृष्टिमें विद्यमान होती हैं और विदेहमुक्तकी नहीं होतीं परन्तु अनुभव दोनों का एकसा होता है, क्योंकि-दोनों को ही द्वैतकी प्रतीति नहीं होती है। श्रीरामजीने कहा है कि-

ब्रह्मन् विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
ब्रूहि येन तथैवाहं यते शास्त्रगया दृशा ॥

हे ब्रह्मन्! विदेहमुक्तका और जीवन्मुक्तका लक्षण कहिये कि जिसको सुनकर मैं शास्त्रसे प्राप्त होने वाली ज्ञानदृष्टिके द्वारा उस पदको पाने का यत्न करूं। वशिष्ठजीने उत्तर दिया कि-

यथा स्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

देह इन्द्रिय आदिसे व्यवहार करनेवाले भी जिस जीवन्मुक्त पुरुष की दृष्टिमें यह नाम रूपवाला जगत् ज्योंका त्यों होतेहुए भी नाशको प्राप्त होगया है, और केवल चिदाकाश ही भासता है, जगत्की प्रतीति होती ही नहीं वही जीवन्मुक्त कहलाता है। इस प्रतीतिके होनेपर पहाड़ नदी, समुद्र आदि अनेकों पदार्थोंका समूहरूप संसार जिसप्रकार प्रलय कालमें उसको देखने और जाननेवाले जीवोंके देह इंद्रिय आदि के साथ नाशको प्राप्त होजाता है, उसका स्वरूप नहीं होता है परंतु जीवन्मुक्त दशामें ऐसा नहीं होता है, किन्तु उसमें देह इन्द्रिय आदि का व्यवहार रहता ही है तथा नामरूपात्मक जगत्का ईश्वर के द्वारा संहार न होनेके कारण उसको अन्य सब प्राणी स्पष्ट देख सकते हैं, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषकी संसार की प्रतीति कराने वाली वृत्तियें नहीं रहतीं हैं, इसलिये उसकी दृष्टिमें यह संसार सुषुप्तिकी समान अस्तको प्राप्त होता है। उसको तो केवल शेष रहा हुआ स्वयं-प्रकाश चिदाकाश ही भासता है। कुछ समयको वृत्तियोंका अभाव तो सुषुप्ति कालमें पशु जीवोंको भी होता है । परन्तु सुषुप्ति काल

दूर होतेही उदय पानेवाली वृत्तियोंका बीज सुषुप्ति कालमें होनेके कारण वे जीवन्मुक्त नहीं गिने जासकते।

नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखैर्मुखप्रभा ।
यथा प्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

माला चन्दन सत्कार आदि पदार्थोंके मिलनेसे जिसके चित्तमें संसारी जीवोंकी समान मुखपर हर्ष प्रकाशित नहीं होता है तथा अपमान अनादर आदि दुःखके साधन होनेपर भी जिसके मुखकी कान्ति मन्द नहीं होती है अर्थात् दीनता नहीं झलकने लगती है तथा वर्तमान शरीरसे यत्न किये विना ही प्रारब्धवश प्राप्त हुए भिक्षा आदिके अन्न पर जिसका निर्वाह चलता है वही जीवन्मुक्त कहलाता है। समाधिकालमें इस पुरुषका कोई श्रद्धावान् पुरुष पूजन करे तो भी वृत्तियोंके न होनेसे इसको उस पूजनका भान ही नहीं होता है। यद्यपि समाधिसे व्युत्थान कालमें इसको उसका भान होता है परंतु इस समय भी उसका विवेक इतना दृढ होता है कि, किसी वस्तुका त्याग या ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं होती इसलिये ही उसको हर्ष और विषाद भी नहीं होता है।

यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

जो मनकी वृत्तिसे रहित होनेके कारण सुषुप्तिमें स्थित होता हुआ भी चक्षु आदि इन्द्रियोंके अपने २ गोलकमें स्थित होनेसे जाग्रत् अवस्थाका अनुभव करता है तथा इंद्रियोंके द्वारा विषयोंका सम्बन्ध न होनेसे जिसकी सांसारिक जाग्रत् अवस्था नहीं है, ब्रह्मज्ञानी-पना होते हुए भी ब्रह्मज्ञानीपनेका अभिमान आदि तथा विषयभोगों के लिये उपजे हुए काम आदि अन्तःकरणकी दोषरूप वासना वृत्तियों के न होनेसे जिसका ज्ञान वासनारहित है वही जीवन्मुक्त है।

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

भोजनादिमें प्रवृत्तिरूप रागकी अनुकूलता, बौद्ध कापालिक आदिसे विमुखतारूप द्वेषकी अनुकूलता, सर्प व्याघ्र आदिसे बचजाना रूप भयकी अनुकूलता, मैं दूसरे योगियोंकी अपेक्षा अधिक समय तक समाधि लगाऊँ इस प्रकार मत्सरताकी अनुकूलता, यह सब व्यव-

हार विश्रान्त चित्तवाले पुरुषको समाधिसे उठनेकी दशामें, पहिले बहुत समयके अभ्यासके कारणसे होता है, तो भी जैसे आकाश धुआं धूल मेघ आदिसे छाजाने पर भी अपने निर्लेप स्वभावसे स्वच्छ रहता है इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण राग आदि मल रहित होनेके कारण अत्यन्त निर्मल है वही जीवन्मुक्त कहलाता है।

> यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
> कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते॥

विहित वा निषिद्ध कर्मोंको करते हुए भी जिसका आत्मा अहङ्कार के कारण तादात्म्याध्याससे युक्त नहीं होजाता है तथा जिसकी बुद्धि हर्ष विषाद आदिके लेपसे रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है

लोकमें बद्ध पुरुषके हृदयमें शास्त्रके अनुसार कर्म करते समय मैं इन कर्मोंका कर्ता हूँ, ऐसा अहङ्कार उपजता है तथा मैं स्वर्ग सुखको पाऊँगा ऐसे हर्षसे भी लिप्त होता है और जब शास्त्रके अनुसार कर्म नहीं करता है, उस समय मैंने सत्कर्मको त्याग दिया, ऐसा अभिमान करता है। तथा 'अब मुझे स्वर्ग प्राप्त नहीं होगा' ऐसे खेदरूप लेपको प्राप्त होता है ऐसा ही संसारके भलेबुरे कर्मोंके विषयमें भी समझलो। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषको ऐसे अहङ्कारके साथ तादात्म्याध्यास नहीं होता है, तथा उसके हर्ष शोकादि लेप भी नहीं होते हैं।

> यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
> हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

जो स्वयं किसीका अनादर और ताड़न आदि नहीं करता है उस से लोग भय नहीं मानते हैं। तथा दूसरे लोग उसका तिरस्कार ताड़न आदि भी नहीं करते हैं। कदाचित् कोई दुष्ट पुरुष ऐसा करने लगे तो भी उसके चित्तमें तिरस्कार आदि विकल्पोंका उदय नहीं होता है इसकारण वह किसीसे त्रास नहीं पाता, ऐसा हर्ष क्रोध भय आदिसे मुक्त पुरुष ही जीवन्मुक्त कहलाता है।

> शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
> यः सचित्तोपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

शत्रु, मित्र, तथा मान, अपमान आदि संसारके विकल्प जिसके चित्तमेंसे शान्त होगये हैं, जो विद्या कला आदिमें कुशल होकर भी

उनके ज्ञानका अभिमान न रखनेसे तथा उनको चर्चामें न लानेसे विद्या कला आदिके ज्ञानसे रहित सा दीखता है, तथा जिसका चित्त विद्यमान होते हुए भी चित्तकी वृत्तियोंके न होनेसे जो चित्तशून्य सा दीखता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है ।

यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

जो सकल पदार्थोंमें व्यवहार करता हुआ भी केवल दूसरोंके लिये ही व्यवहार करता है ऐसा होनेसे जिसके चित्तमें शीतलता है तथा जो निरन्तर पूर्ण आत्माका विचार करता है वही जीवन्मुक्त कहलाता है ।

जैसे कोई पुरुष दूसरेके घर विवाह आदि उत्सवमें जाकर घरके स्वामीको प्रसन्न रखनेके लिये उसके काम करानेमें सम्मिलित होता है परन्तु उन कामोंमें हानि लाभ होनेसे उसको हर्ष विषाद-रूप सन्ताप नहीं होता ऐसे ही यह मुक्त पुरुष भी अपने कार्योंमें शीतल अन्तःकरण वाला अर्थात् हर्ष विषादसे विलग रहता है। हर्ष विषाद न होनेसे ही अन्तःकरणमें शीतलता रहती हो ऐसा नहीं है, किन्तु सर्वत्र पूर्ण आत्मस्वरूपके विचारके प्रभावसे भी मुक्त पुरुष अन्तःकरणकी शीतलताका अनुभव करता है ।

इति जीवन्मुक्तलक्षणम् ।

अथ विदेहमुक्तका लक्षण कहते हैं-

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥

अपने शरीरके कालकवलित होजाने पर मुक्त पुरुष, जीवन्मुक्त पदको त्यागकर इस प्रकार विदेह मुक्तिमें प्रवेश करते हैं कि-जैसे चलता हुआ पवन कुछ समयके उपरान्त निस्पन्द होजाता है अर्थात् जैसे किसी समय पवन अपनी चलनचेष्टाको त्यागकर निश्चल होजाता है,ऐसे ही मुक्तात्मा उपाधिकृत संसारको त्यागकर स्वस्व-रूपमें स्थिर होजाता है ।

विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाऽहं न च नेतरः ॥

विदेहमुक्त पुरुष हर्ष विषादरूप उदय अस्तको नहीं पाता है और उनका त्याग भी नहीं करता है, क्योंकि-उसका लिङ्गदेह स्थूल

शरीरके साथ ही लीन होगया है, वह सत् रूप नहीं है अर्थात् जगत् का कारणरूप अविद्या और माया उपाधियुक्त प्राज्ञ तथा ईश्वररूप नहीं है, इसी प्रकार असत् कहिये पञ्चभूत वा पञ्चभूतोंका कार्यरूप नहीं है, मायासे अतीत नहीं है तथा समष्टि एवं व्यष्टिशरीरके व्यवहारके योग्य कोई भी विकल्प उसमें नहीं है ।

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ॥

उस समय निश्चल, गम्भीर (जिसको मनसे भी न जाना जासके) न तेजरूप ही न अन्धकाररूप ही, सर्वत्र व्याप्त, जिसको वाणीसे न कहा जासके तथा इंद्रियोंसे ग्रहण न किया जासके ऐसा अनिर्वचनीय सत् शेष रहता है ।

ऐसी विदेहमुक्तिकी समान जीवन्मुक्तिको कह कर उसकी श्रेष्ठता दिखायी है, इसलिये जीवन्मुक्ति दशामें भी जितनी अन्तःकरणकी निर्विकल्पकता अधिक होगी उतनी ही जीवन्मुक्तिकी उत्तम दशा मानी जायगी ।

भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञके वर्णनमें अर्जुन बूझता है, कि—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ और समाधिसे जागाहुआ स्थितप्रज्ञ, ऐसा दो प्रकारका स्थितप्रज्ञ होता है । इनमें समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ अपने लक्षणको बतानेवाले किन शब्दोंको बोलता है ? और समाधिसे जागा हुआ स्थितप्रज्ञ वाणीका कैसा व्यवहार करता है ? तथा वह किसप्रकार बाहरकी इन्द्रियोंका निग्रह करता है और इन्द्रियोंका निग्रह न होनेकी दशामें विषयोंको किसप्रकार ग्रहण करता है ।

प्रज्ञा (तत्त्वज्ञान) स्थिर और अस्थिर दो प्रकारकी होती है । जैसे जार पुरुषमें प्रेम करनेवाली स्त्री, घरका सब कामकाज करती हुई भी बुद्धिसे जारका ही चिन्तवन करती है तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाले घरके कामोंको करती है परन्तु उनको तनिक देरमें ही भूल जाती है, इसप्रकार ही परमवैराग्यवान् पुरुष कि-जिस ने श्रेष्ठ गुरुके उपदेशके अनुसार साधेहुए योगके द्वारा चित्तको

अत्यन्त वशमें कर लिया है, उसकी बुद्धि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होजाने पर जारकी समान निरन्तर परमात्माका ध्यान किया करती है, इस लिये उसकी प्रज्ञा स्थिर है, परन्तु जिसमें यह गुण नहीं होता है उस पुरुषके कदाचित् किसी पुण्य विशेषके कारणसे तत्त्वज्ञान होजाय तो उसको व्यभिचारिणी स्त्रीके घरके कामकाजकी समान उस तत्त्वज्ञानका विस्मरण होजाता है, इसकारण उसकी प्रज्ञा अस्थिर है। इस ही अभिप्रायको वशिष्ठजीने भी कहा है कि-

परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥

अर्थात्-परपुरुषमें प्रेम रखनेवाली स्त्री घरका काम करती हुई भी जैसे उस परपुरुषके सङ्गके रसका ही अनुभव करती है, ऐसे ही शुद्ध परमात्मतत्त्वमें विश्रामको प्राप्त हुआ विवेकी पुरुष बाहर व्यवहार करता हुआ भी अन्तःकरणमें तो उस परमतत्त्वका ही अनुभव करता है ।

वह स्थितप्रज्ञ समयके भेदसे दो प्रकारका है। एक समाहित और दूसरा व्युत्थित। उन दोनोंके लक्षण आगे २ श्लोकमें बूझता है- समाधिस्थ स्थितप्रज्ञकी भाषा कौनसी है अर्थात् कौनसे लक्षणरूप शब्दोंसे लोग उसका वर्णन करते हैं ? और व्युत्थित स्थितप्रज्ञ कैसी बोलचालको व्यवहार करता है, उसके बैठने और चलने फिरनेमें अन्य मूढ़ पुरुषोंसे क्या विलक्षणता होती है? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

हे अर्जुन ! जब साधक अपने मनमेंकी सब इच्छाओंको त्याग देता है और विषयोंमेंको न जानेवाले अपने चित्तमें आप ही सन्तुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

काम तीन प्रकारका है-बाह्य आभ्यन्तर और वासनारूप। अपने उद्योगसे पायेहुए मोदक आदि बाह्य (बाहरी) काम है। मोदक आदि पाये तो न हों परन्तु अन्तःकरणमें उनकी आशा लग रही हो वह आभ्यन्तर काम है और मार्गमें पड़े हुए तिनुके आदि पदार्थोंकी

समान रागद्वेषशून्य दृष्टिसे प्रतीत होनेवाले भोग्य पदार्थमात्र वासनारूप काम गिनेजाते हैं। समाधिस्थ पुरुष अन्तःकरणकी सब वृत्तियोंका क्षय होजानेके कारण इन सब कामोंको त्याग देता है। उसके मुखकी प्रसन्नतासे प्रतीत होता है कि-इसके अन्तःकरण में परम सन्तोष है यह सन्तोष कामविषयक नहीं होता है किन्तु आत्मविषयक होता है, क्योंकि-कामोंका तो वह त्याग कर चुका है और उसकी बुद्धि परमानन्दरूपसे आत्मतत्त्वकी ओरको जाने लगी है। जैसे संप्रज्ञात समाधिमें आत्मानन्दका मनोवृत्तिसे अनुभव होता है, ऐसा असंप्रज्ञात समाधिमें नहीं होता है, उसमें तो स्वयंप्रकाश चैतन्य आत्मरूपसे ही अनुभवमें आता है, अतः वह सन्तोष वृत्तिसे (इन्द्रियविषयसंयोगसे) उत्पन्न हुआ नहीं है किंतु वृत्तिका संस्काररूप है। ऐसे लक्षणोंवाले शब्दोंसे समाहितका वर्णन होता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

दुःखके अवसरोंमें जिसका मन घबड़ावे नहीं और सुखमें जिसकी तृष्णा न बढ़े और जिसके राग, भय और क्रोधका नाश होगया हो वह मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

राग आदिसे उत्पन्न होनेवाली, रजोगुणका कार्यरूप, संतापमयी प्रतिकूल चित्तकी वृत्ति ही दुःख कहलाती है। ऐसे दुःखके आ पड़ने पर अरे! मैं तो पापी हूँ, मुझ दुष्टात्माको धिक्कार है, ऐसी तमोगुण से उत्पन्न होनेवाली, भ्रान्तरूपा, पश्चात्तापसे भरी हुई चित्तकी वृत्ति का नाम उद्वेग है। यद्यपि यह उद्वेग साधारण दृष्टिसे देखने पर विवेकसा मालूम होता है,तथापि यदि पहले जन्ममें पापमें प्रवृत्त होने से पहले हुआ होता तो पापको रोक देनेके कारण सफल होता, परंतु इस वर्त्तमान जन्ममें तो उससे कोई प्रयोजन ही नहीं सधता, इस कारण वह भ्रांतिरूप ही है। राज्य पुत्र आदिकी प्राप्तिसे प्रकट हुई, सात्त्विक प्रीतिरूपा अनुकूल चित्तकी वृत्तिका नाम सुख है, ऐसा सुख प्राप्त होने पर "आगेको, भी मुझे ऐसा ही सुख मिले तो बड़ा अच्छा हो" ऐसी, सुखके कारणरूप धर्माचरणको किये विना केवल वृथा इच्छारूपा जो तामसी वृत्ति है वह स्पृहा कहलाती है। तहां सुख दुःखको प्राप्त करानेवाले प्रारब्ध कर्म होते हैं और समाधिमेंसे जागने पर वृत्तियें भी बाहरकी ओरको जाती हैं, इस लिये यद्यपि

उसको प्रारब्धवश दुःख सुख तो प्राप्त होते हैं, परंतु उस विवेकी पुरुषको उन दुःख सुखोंके कारणसे उद्वेग और स्पृहा नहीं होसकते तथा तमोगुणके कार्य राग, भय तथा क्रोध, प्रारब्ध कर्मके फल रूप न होनेसे उसमें होते ही नहीं हैं। ऐसे लक्षणोंवाला स्थितप्रज्ञ शिष्य को उपदेश देनेके लिये उद्वेगरहितपना और स्पृहारहित होना आदि अपनेमें विद्यमान दैवी संपत्तियोंके बोधक वचनोंको उच्चारण करता हुआ अपने अनुभवको प्रकट करता है। यह 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' इस प्रश्नका उत्तर हुआ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्यशुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

जिस विद्वान् पुरुषको किसी पदार्थमें स्नेह नहीं है और जो अच्छे पदार्थोंको पाकर उनकी प्रशंसा नहीं करता है तथा अप्रिय पदार्थों को पाकर उनसे द्वेष नहीं करता है उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

जिसके होने पर दूसरेके हानि लाभको अपना हानि लाभ मान लेता है, ऐसी दूसरेके विषयकी तामसी वृत्ति स्नेह कहलाती है। सुखके साधनरूप अपने स्त्री पुत्र आदि ही शुभ वस्तु हैं उनके गुण कहनेमें वाणीका लगजाना ही अभिनंदन या प्रशंसा है। अपने मुख से अपने स्त्री पुत्र आदिकी प्रशंसा करनेसे सुनने वालोंको उस प्रशंसासे स्त्री पुत्र आदिके ऊपर प्रीति नहीं होता है, इस लिये वह व्यर्थ प्रशंसा तामसी कहलाती है। अपनेमें असूया उत्पन्न करदेते हैं इस कारण दुःख देते हैं ऐसे दूसरोंके विद्या आदि गुण अविवेकीके लिये अशुभ वस्तुरूप हैं। उनकी निंदामें लगादेनेवाली बुद्धिकी वृत्तिको द्वेष कहते हैं, वह भी तमोगुणी ही है, क्योंकि–वह व्यर्थ है। ये सब तामस धर्म विवेकी पुरुषमें कदापि नहीं होने चाहियें।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको सकोड़ लेता है तैसे ही यह विद्वान् पुरुष सब इंद्रियोंको उनके विषयोंमेंसे खैंच लेय उस समय ही इसकी बुद्धिको स्थिर समझना चाहिये।

समाधिमेंसे जागेहुए पुरुषमें कोई तामसी वृत्ति होती ही नहीं यही ऊपरके श्लोकमें कहा है और समाधिस्थ पुरुषमें तो कोई भी वृत्ति नहीं होती, फिर तामसी वृत्ति होनेका तो संदेह भी नहीं होसकता।

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥

जो पुरुष उद्योग नहीं करता है उसके घर खेत आदि विषय आप ही निवृत्त होजाते हैं, क्योंकि—उनके लिये उद्योग नहीं किया जायगा तो वे मिलेंगे ही कैसे ? परन्तु उस निरुद्योगी पुरुषकी उन विषयोंमें से तृष्णा नहीं मिटती है, और परमानन्दस्वरूपका साक्षात्कार होजाने पर तो यह तृष्णा भी मिटजाती है ।

सुख दुःखोंके कारणरूप चन्द्रोदय अन्धकार आदि पदार्थोंको प्रारब्धकर्म अपने आप ही रच लेता है, उसमें पुरुषके उद्योगकी आवश्यकता नहीं है और घर खेत आदि कितने ही पदार्थोंको पुरुषके उद्योगके द्वारा उपजाता है । इनमें चन्द्रोदय आदि पदार्थ तो सब इन्द्रियोंके निरोधरूप समाधि अवस्थासे ही निवृत्त होते हैं अन्य उपायसे निवृत्त नहीं होते हैं परन्तु घर खेत आदि पदार्थ समाधिके विना भी उनको पानेका उद्योग त्याग देनेसे ही निवृत्त होजाते है । परन्तु उनमेंकी मानसी तृष्णा नहीं जाती है । जब परमानन्दस्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार होजाता है तब तो तुच्छ सुख देनेवाले विषयोंमें से यह तृष्णा भी निःशेष होजाती है । क्योंकि—

किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः ।

अर्थात् जिनको परमानन्दस्वरूप आत्मपदार्थकी प्राप्ति होगयी वे धन संतान आदिको लेकर क्या करेंगे ?, ऐसा श्रुतिका उपदेश है ।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

हे अर्जुन ! सबको मथ डालनेवाली इन्द्रियें, यत्न करनेवाले विवेकी पुरुषके मनको भी बलात्कारसे विषयोंकी ओरको खेंच कर लेजाती हैं । इसलिये मेरा भक्त उन सब इन्द्रियोंको वशमें रख कर चित्तको स्थिर करके बैठा रहे, क्योंकि-जिसकी इन्द्रियें वशमें रहती हैं उस की बुद्धि स्थिर रहती है ।

प्रवृत्तिका त्याग और ब्रह्मदर्शनके लिये उद्योग करतेहुए भी किसी समय चूक न जाय, इसलिये समाधिका अभ्यास अवश्य करना

चाहिये। यह "किमासीत" अर्थात् वह इन्द्रियोंका निग्रह किसप्रकार करता है ?, इस प्रश्नका उत्तर है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशाद्विनश्यति॥

विषयोंका ध्यान करनेवाले पुरुषका उन विषयोंमें सङ्ग होता है सङ्गसे ये विषय मुझे मिलजायँ तो अच्छा हो, ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है; फिर यह इच्छा ही यदि वे विषय न मिलें तो क्रोधरूप बन जाती है। क्रोधसे अविवेकरूप मोह उत्पन्न होता है, मोहसे परमात्मतत्त्वका अनुसन्धान छूटजाता है, ऐसा हुआ कि-ज्ञानका नाश होजाता है अर्थात् उलटी २ बातें सूझकर ज्ञानकी प्राप्तिमें रुकावट पड़ जाती है, और ऐसा होने पर नाश होजाता है अर्थात् प्राणी परम पुरुषार्थसे भ्रष्ट होजाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

मनको वशमें रखनेवाला पुरुष तो रागद्वेषरहित और मनके वशमें रहनेवाली इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण करता हुआ चित्तकी प्रसन्नताको पाता है अर्थात् बन्धनमें नहीं पड़ता।

समाधिके अभ्यासवाला पुरुष, अभ्यासकी वासनाके बलसे व्युत्थान अवस्थामें सब इंद्रियोंका व्यापार करता हुआ भी बन्धनमें नहीं पड़ता है। इसप्रकार "किं व्रजेत" इस प्रश्नका उत्तर हुआ। इससे आगेके भी बहुतसे श्लोकोंसे भगवद्गीतामें स्थितप्रज्ञका विस्तारके साथ वर्णन किया है।

ज्ञानकी उत्पत्ति तथा स्थितिसे पहले भी साधनरूप राग द्वेषके अभावकी आवश्यकता है, फिर जीवन्मुक्त दशामें ही उसकी अपेक्षा क्यों दिखायी ? यह कहना ठीक है, परन्तु इसमें तनिक फेर है, जो कि-श्रेयोमार्ग ग्रन्थमें दिखाया है-

विद्यास्थितये प्राग्ये साधनभूताः प्रयत्ननिष्पाद्याः।
लक्षणभूतास्तु पुनः स्वभावतस्ते स्थिताः स्थितप्रज्ञे॥

जीवन्मुक्तिरितीमां वदन्त्यवस्थां स्थितात्मसंबन्धाम्।
बाधितभेदप्रतिभामबाधितात्मावबोधसामर्थ्यात् ॥

विद्याकी स्थितिके लिये मुमुक्षु पुरुषमें जो साधनरूप दैवी संपत्तियें प्रयत्नसाध्य होती हैं वे स्थितप्रज्ञ पुरुषमें स्वाभाविक होती हैं। इस स्थितप्रज्ञकी दशाको जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं, इस दशामें आत्मज्ञानके प्रभावसे भेदप्रतीति बाधित होती है।

भगवान्ने गीताके १२वें अध्यायमें भगवद्भक्तका वर्णन यों किया है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

सकल प्राणियोंसे द्वेष न करनेवाला, सबका मित्र, सबके ऊपर दया करनेवाला, ममता और अहङ्कारका त्यागी,सुख दुःखको समान माननेवाला, क्षमावान्, निरन्तर सन्तोषी, चित्तकी वृत्तियोंको रोके हुए शरीर और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला,दृढनिश्चयी तथा जिसने मन और बुद्धिको मेरे अर्पण कर दिया है ऐसा जो मेरा भक्त है वही मुझे प्यारा है।

जीवन्मुक्त पुरुष जब समाधिस्थ होता है उस समय उसका मन ईश्वराकार होता है, इसकारण वह और किसी विषयका अनुसन्धान नहीं करता है तथा समाधिमेंसे जागजाने पर भी उदासीन वृत्ति रखता है, हर्ष विषाद न होनेके कारण वह सुख और दुःख दोनोंको एक समान मानता है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥

जिससे कोई प्राणी उद्विग्न नहीं होता और जो किसी भी प्राणीसे उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, द्वेषजलनापन, भय और उद्वेगसे शून्य है वह मुझे प्यारा है। जो कुछ चाहना न रखनेवाला, पवित्र, चतुर, उदासीन, व्यथारहित तथा सब कर्मोंका त्यागी है ऐसा मेरा भक्त ही मुझे प्यारा है। जो न हर्ष पाता है, न किसीसे द्वेष रखता है न शोक करता है, न किसीकी चाहना रखता है और जो शुभ अशुभ को त्याग चुका है ऐसा भक्तिमान् पुरुष ही मुझे प्यारा है। जो शत्रु मित्रमें, मान अपमानमें, सरदी गरमीमें तथा सुख दुःखमें, समान-भाव रखता है तथा जो किसीमें आसक्ति नहीं रखता है। जो निन्दा और प्रशंसाको समान मानता है, जो मौन रहता है, प्रारब्धवश जो कुछ मिलजाय उससे ही जो सन्तुष्ट रहता है, जो कहीं स्थल बनाकर नहीं रहता है और जिसकी बुद्धि सन्मार्गमें जमी हुई है ऐसा भक्ति-मान् पुरुष ही मुझे प्यारा है।

यहां भी वार्त्तिककारने विविदिषा संन्यासी तथा जीवन्मुक्त पुरुष का भेद पूर्वकी समान ही बताया है।

उत्पन्नात्मप्रबोधस्य यद्द्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतोऽभवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः॥

जिसको आत्मज्ञान प्राप्त होगया है उसमें द्वेषरहित होना आदि गुण स्वभावसे ही होते हैं, साधनरूपसे नहीं होते।

भगवद्गीताके १४वें अध्यायमें गुणातीतका वर्णन है। अर्जुनने कहा कि-

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते॥

हे भगवन्! इन तीनों गुणोंको लांघ जानेवाले पुरुषके क्या लिङ्ग (लक्षण) होते हैं उसका कैसा आचार होता है अर्थात् उसके मनकी प्रवृत्ति कैसी होती है और वह इन तीनों गुणोंको कैसे लांघता है?

सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंका नानाप्रकारका परिणामरूप ही यह सब संसार है, इसलिये असंसारीपना ही गुणातीतपना है और जीवन्मुक्तपना भी यही है। लिङ्ग कहिये जिनसे दूसरे गुणातीत को समझ सकें वे चिन्ह और मनकी प्रवृत्तिका नाम आचार है। श्रीभगवान् उत्तर देते हैं कि—

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि निवृत्तानि न कांक्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष प्रकाश (सत्त्व) प्रवृत्ति (रज) और मोह (तम) से होनेवाली प्रवृत्तियोंसे द्वेष नहीं करता है और निवृत्तहुए इनको चाहता नहीं है । जो उदासीनकी समान रहता है, जो गुणों से चलायमान नहीं होता है, जो गुण ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे निश्चय के साथ स्थित होकर सकल व्यापारोंसे रहित होजाता है । जिसको सुख दुःख समान हैं, जो स्वरूपमें स्थित है, जो मट्टीका ढला पत्थर और सोनेको एकसा समझता है, जिसको प्रिय और अप्रिय समान हैं, जो धीर है और जो अपनी निन्दा स्तुतिको एकसी समझता है। जो मान अपमानमें समान है, जो मित्र और शत्रुओंमें एकसा भाव रखता है, जिसने सब आरंभोंको त्यागदिया है वह पुरुष गुणातीत कहलाता है । और जो अनन्य भक्तिसे मेरी सेवा करता है वह इन तीनों गुणोंके पार होकर ब्रह्मरूप होनेकी योग्यता पाजाता है ।

सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका ही नाम प्रकाश प्रवृत्ति और मोह है । ये तीनों गुण जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें अपना २ काम करते हैं और सुषुप्ति समाधि तथा चित्तकी शून्य अवस्थामें निवृत्त होजाते हैं । इन गुणोंकी प्रवृत्ति भी दो प्रकारकी है—अनुकूल और प्रतिकूल । मूढ़ पुरुष जाग्रत् अवस्थामें प्रतिकूल प्रवृत्तिसे द्वेष करता है और अनुकूल प्रवृत्तिको चाहता है। गुणातीत पुरुषोंको तो अनुकूल प्रतिकूलका अभ्यास ही नहीं होता है, इसलिये वे न किसी प्रवृत्तिको चाहते ही हैं और न किसी प्रवृत्तिसे द्वेष ही करते हैं । जैसे दो मनुष्योंकी लड़ाईको देखनेवाला तटस्थ पुरुष उदासीनभावसे देखा करता

हैं, उनमेंसे किसीकी जय हो चाहे पराजय, उससे वह हर्ष विषाद नहीं मानता है, ऐसे ही गुणातीत विवेकी पुरुष गुणोंकी परस्पर प्रवृत्ति निवृत्तिको साक्षीकी समान देखता रहता है। गुण गुणोंमें प्रवृत्त होते हैं, मैं, उसमें कुछ भी नहीं करता हूँ, ऐसे विवेकसे विषयोंमें उदासीनता होजाती है। मैं ही करता हूँ, ऐसा अभ्यास ही विचलित होना है, यह गुणातीत जीवन्मुक्तमें नहीं होता है। यह 'किमाचारः' इस प्रश्नका उत्तर होगया। सुख दुःख आदिको एक समान समझना इत्यादि गुणातीतके चिन्ह हैं तथा अखण्ड भक्ति सहित ज्ञान और ध्यानके अभ्याससे परमात्माका सेवन करना यह गुणातीत होनेका साधन है। जीवन्मुक्तका व्यास आदिने ब्राह्मण नामसे वर्णन किया है—

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधायिनं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

जो ओढ़नेके लिये कोई वस्त्र नहीं रखता, जो कुछ बिछाकर सोता नहीं है, जो बाहूको ही तकिया मानता है, ऐसे शान्त पुरुषको देवता ब्राह्मण कहते हैं।

यहां ब्राह्मण शब्द ब्रह्मवेत्ताका वाचक है, क्योंकि-'अथ ब्राह्मणः' इस श्रुतिने ऐसा ही वर्णन किया है। जातरूपधरो नाच्छादनं चरति परमहंसः" जन्मसमयके अनुसार नग्नरूप रहनेवाला परमहंस कुछ नहीं ओढ़ता है। इत्यादि श्रुतियोंमें सब व्यवहारकी सामग्रीका त्याग करदेना परमहंसका मुख्य धर्म कहा है। इसलिये उसका उत्तरीय वस्त्र आदिको त्यागदेना उचित ही है।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचनशायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

प्रारब्धवश किसीने कुछ उढ़ादिया तो उससे ही शरीरको ढक लेनेवाला, किसीने कुछ खिलादिया तो उससे ही निर्वाह करलेनेवाला तथा रात्रिमें चाहे तहां सो रहनेवाला जो पुरुष है उसको ही देवता ब्राह्मण कहते हैं।

शरीरयात्राके निर्वाहके लिये अन्न, वस्त्र, सोनेके स्थान आदिकी अपेक्षा होने पर भी यह अच्छा है और यह अच्छा नहीं है ऐसा विचार जीवन्मुक्त पुरुषका नहीं होता है। उदरपूर्ति शरीरका पालन और शरीरनिर्वाह तो भले और बुरे सब ही प्रकारके अन्न आदिसे

दोसकता है, इसलिये भोग्य पदार्थोंके गुण दोषोंका निष्प्रयोजन विचार करना सो केवल चित्तका दोष है, अतः विवेकी पुरुषको यह त्याग देना चाहिये । श्रीमद्भागवतके ११ वें स्कन्धमें भी कहा है-

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥

गुण दोषके लक्षणोंका अधिक वर्णन करनेसे क्या फल है? यह भला है, यह बुरा है, इस प्रकार गुण दोषकी दृष्टि करना तो दोषरूप है और ऐसे गुणदोषकी दृष्टिको त्यागदेना गुणरूप है ॥

कन्थाकौपीनवासास्तु दण्डभृग्ध्यानतत्परः ।
एकाकी रमते नित्यं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

कन्था और कोपीन ही जिसके वस्त्र हैं, जो दण्ड धारण करता है और ध्यानमें मग्न रहता है तथा जो सदा एकान्तमें अकेला ही परम आनन्दमें रहता है उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं ।

यदि ब्रह्मका उपदेश आदि देकर प्राणियोंके ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा होय तो, हमारा आश्रम उत्तम है ऐसी मुमुक्षु पुरुषोंको श्रद्धा उत्पन्न करानेके लिये परमहंसको दण्ड आदि चिह्न धारण करने चाहियें क्योंकि—

कौपीनं दण्डमाच्छादनञ्च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकोपकारार्थाय च परिग्रहेत् ॥

कोपीन, दण्ड और ओढ़नेका वस्त्र अपने शरीरके निर्वाहके लिये तथा लोकोपकारके लिये ग्रहण करे, ऐसा भगवती श्रुति भी कहती है । प्राणियोंके ऊपर अनुग्रह करनेकी इच्छा होय तो भी परमहंस दूसरोंके साथ उनके घरकी संसारी बातें न करे, किंतु उपदेश देने से जो समय बचे उसमें ध्यानपरायण रहे । श्रुति भी कहती है—

तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ ॥

उस एक आत्माका ही ज्ञान प्राप्त करो, और बातें छोड़दो, केवल आत्माके विषयकी ही बातें करो, श्रुति भी कहती है-

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचोविग्लापनं हि तत् ॥

धीर ब्रह्मज्ञानी पुरुष उस आत्माका ज्ञान प्राप्त करके निरंतर अंतः-करणमें उसका ही विचार किया करे, आत्मासे अन्य पदार्थोंके

वाचक अनेकों शब्दोंका चिन्तवन न करे, क्योंकि-वह तो वाणी को वृथा परिश्रम देना है ।

ब्रह्मका उपदेश अन्य वाणी नहीं है, इसलिये वह जीवन्मुक्त पुरुष के लिये विरोधी नहीं है, परमात्माका ध्यान अकेले रहनेसे निर्विघ्न होसकता है, इस लिये स्मृतिमें कहा है-

एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वन्तु नगरायते ॥
नगरं नहि कर्त्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ।
ग्रामवार्त्ता हि तेषां स्याद्भिक्षावार्त्ता परस्परम् ॥

अकेला रहकर शास्त्रानुकूल वर्त्ताव करनेवाला भिक्षुक कहलाता है, दो भिक्षुक इकट्ठे होकर रहें तो मिथुन (जोड़ा) कहलाता है, तीन भिक्षुक इकट्ठे रहें तो ग्राम कहलाता है और इससे अधिक इकट्ठे होजायँ तो नगर कहलाता है।। भिक्षुकको नगर, ग्राम या मिथुन बना कर नहीं रहना चाहिये, क्योंकि-ऐसा करनेसे उनमें आपसमें ग्राम और नगरकी बातें होने लगती हैं अथवा भिक्षाकी बातें होने लगती हैं।

स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं सन्निकर्षात्प्रवर्त्तते ।

पास २ रहनेसे आपसमें स्नेह या निन्दा अथवा देखजलनेपनके दोष उत्पन्न होजाते हैं ।

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

किसीको आशीर्वाद न देनेवाले, कोई आरम्भ न करनेवाले, किसी को नमस्कार वा किसीकी प्रशंसा न करनेवाले, अपनेमें दीनता न आने देनेवाले और जिसके कर्मोंका क्षय होगया है ऐसे पुरुषको देवता ब्राह्मण कहते हैं ।

श्रेष्ठ मानेजानेवाले संसारी पुरुष, अपनेको प्रणाम करनेवाले पुरुषोंको आशीर्वाद दिया करते हैं। जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो उसके यहाँ उस वस्तुकी वृद्धि होनेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करना आशीर्वाद कहलाता है,जैसे कोई सन्तानका अभिलाषी प्रणाम करे तो 'ईश्वर तुझे पुत्र देय' ऐसा उससे कहना आशीर्वाद है। लोगोंकी भिन्न २ रुचि होती है, उन सबोंकी इच्छित वस्तुओंके खोजने में व्यग्रचित्त हुए जीवन्मुक्त संन्यासीकी लोकवासना प्रतिदिन बढ़ती है और वह ज्ञानमें बाधा डालनेवाली है। योगवाशिष्ठमें कहा भी है-

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥

लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासनासे जीवको यथार्थ ज्ञान नहीं होता है ।

आरम्भ और नमस्कार भी लोकवासनाको बढ़ाने वाले होनेसे ज्ञान के बाधक हैं । अपने लिये अथवा दूसरेके लिये घर क्षेत्र आदिका उद्योग करना आरम्भ कहलाता है, इसलिये जीवन्मुक्तको आरम्भ और नमस्कार त्याग देने चाहिये । यदि आशीर्वाद नहीं दिया जायगा तो प्रणाम करनेवाले मनुष्योंको खेद होगा, यह सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि-लोकवासना भी न बढ़े और प्रणाम करनेवालोंको खेद भी न हो, इसके लिये सब आशीर्वादोंके स्थानमें 'नारायण' शब्दका उच्चारण करदेय । आरम्भ तो सर्वथा ही दूषित है । लिखा है, कि-

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।

जैसे धुएंसे आग ढकजाती है ऐसे ही सब आरम्भ दोषसे घिरेहुए हैं । विविदिषा संन्यासमें नमस्कारका विधान है ।

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।
तस्मै प्रणामः कर्त्तव्यो नेतराय कदाचन ॥

जिसने अपनेसे पहले संन्यास लिया हो तथा धर्माचरणमें जो अपने समान हो उस संन्यासीको प्रणाम करे दूसरेको नहीं । यह आज्ञा भी विविदिषासंन्यासीके लिये है, विद्वत्संन्यासीके लिये नहीं है । क्योंकि-क्या यह मुझसे पहले संन्यासी हुआ है? और यह धर्ममें मेरे समान कैसे हो सकता है? ऐसे विचारसे जीवन्मुक्तकी मति विक्षेपमें पड़जाती है, इसलिये नमस्कारके लिये बहुतसे संन्यासी कलह करतेहुए देखे जाते हैं । इसका कारण वार्त्तिककारने बताया है ।

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः ॥

प्रमादी, विषयासक्त चित्तवाले, झूठी बात बनानेवाले तथा कलह में प्रसन्न रहनेवाले अनेकों संन्यासी देखनेमें आते हैं, कि-जिनका चित्त दुर्दैववश दूषित रहता है । मुक्त पुरुषको किसीके लिये भी नमनेकी आवश्यकता नहीं है । श्रीशङ्कराचार्यजीने भी कहा है ।

नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्येऽवस्थितो यदा ।
प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥

आत्मज्ञानी पुरुष जब नाम रूप आदिसे पर तथा व्यापक निज स्वरूपमें स्थित होता है उस समय वह किसको प्रणाम करे? क्योंकि उस समय तो उसको कुछ भी कर्त्तव्य नहीं होता है।

चित्तविक्षेपके हेतुरूप नमस्कारका निषेध होने पर भी सर्वत्र समान ब्रह्मबुद्धिसे नमस्कार करना लिखा है, क्योंकि-उससे चित्तमें प्रसन्नता आती है। भागवत के ११ वें स्कन्धमें लिखा है-

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।
प्रणमेद् दण्डवद्भूमावश्वचाण्डालगोखरम्॥

सबमें जगदीश्वर अपने जीवकलारूपसे प्रवेश किये हुए हैं; ऐसा समझ कर कुत्ता, चाण्डाल, बैल और गधे तकको प्रणाम करे।

मनुष्यकी स्तुति करनेका निषेध है, ईश्वरकी स्तुतिका निषेध नहीं है। बृहस्पतिजी कहते हैं-

आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया।
तथा चेद्विश्वकर्त्तारं को न मुच्येत बन्धनात्॥

जैसे मनुष्य धनकी तृष्णासे आदरके साथ धनी पुरुषकी प्रशंसा करता है ऐसे यदि विश्वकर्त्ताकी स्तुति करे तो इस संसारबन्धन से कौन नहीं छूटजाय?।

अक्षीणपनेका अर्थ है-दीनभावको त्यागदेना। लिखा है कि-

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित्।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्॥

यदि किसी समय अन्न न मिले तो संन्यासी दुःखित न होय और मिलजाने पर धैर्यवान् हर्ष न मनावे, क्योंकि भोजनका मिलना या न मिलना दोनों बातें दैवाधीन हैं।

क्षीणकर्मका अर्थ है-विधि निषेधके वशमें न होना, क्योंकि-

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

त्रिगुणातीत मार्गमें विचरनेवालोंके लिये विधि क्या और निषेध क्या? इसी अभिप्रायको लेकर भगवान्ने भी कहा है-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

कर्मकाण्डरूप वेद तीनों गुणोंके कार्यको प्रकाशित करते हैं, इस लिये हे अर्जुन! तू सुख दुःख आदिसे रहित, अटल धैर्यवान्, योग

क्षेमकी चिन्ता और उसके लिये प्रयत्नसे रहित तथा आत्मनिष्ठ हो, नारदजी कहते हैं कि-

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥

निरन्तर विष्णुका स्मरण करें, किसी समय भी न भूलें, जो सदा विष्णुका स्मरण करता है, कभी भी नहीं भूलता है, विधिनिषेध उसके सेवक बने रहते हैं ।

योऽहेरिव गणाद् भीतः संमानान्नरकादिव ।
कुणपादिव यः स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

जो मनुष्योंके समूहकी राजसम्बन्धी बातों से सांपकी समान डरता है, सन्मानसे नरककी समान भयभीत होता है और स्त्रीके स्पर्शसे मुरदेके स्पर्शकी समान घबड़ाता है उसको देवता ब्राह्मण कहते हैं । सन्मानसे आसक्ति होती है इसलिये वह मोक्षका विरोधी है, अतः उसको नरक की समान त्याग देना चाहिये ।

असंमानात्तपोवृद्धिः संमानात्तु तपःक्षयः ।
अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति ॥

अपमानसे तप बढ़ता है और सन्मानसे तप घटता है, क्योंकि—अर्चित पूजित ब्राह्मण दूध दुही हुई गौकी समान निकम्मा होजाता है।

इसी अभिप्रायसे यतिके लिये अपमानको अच्छा कहा है—

तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥

योगी इस संसारमें ऐसा आचरण करे, कि-जिससे दूसरे लोग उसका अपमान करें, सङ्ग न करें परन्तु उससे सत्पुरुषोंके धर्मको बट्टा न लगे। स्त्रीमें दो प्रकारके दोष होते हैं। एक तो शास्त्रमें उनसे सङ्गका निषेध किया है, दूसरे स्त्रीसहवास निन्दित है। उसमें किसी उत्कट पापरूप प्रारब्धका उदय होनेसे आसक्ति होकर कदाचित् कोई निर्बलचित्तका पुरुष शास्त्रके निषेधको उल्लंघन कर बैठे, इसके लिये कहा है, कि-

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नैकशय्यासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

माता, बहिन और बेटी तकके साथ एक अथवा अत्यन्त समीप शय्या पर न सोवे तथा एक आसन पर बैठे भी नहीं, क्योंकि—ये इन्द्रियें ऐसी बलवान् हैं कि-परमविचारवान्को भी खैंचकर विषयों में को लेजाती हैं। स्त्रियोंका समागम निन्दित क्यों है, यह बात भी शास्त्रमें दिखायी है-

क्षीणाक्षवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥
चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्।
ये रमन्ति नरास्तत्र कृमितुल्याः कथं न ते ॥

स्त्रीके मूत्रस्थान और पीव बहतेहुए गहरे फोड़ेमें कुछ भेद नहीं है अर्थात् दोनोंको देख कर एकसी घिन होना चाहिये परन्तु मनकी खोटी खिचावटके कारण प्रायः मनुष्य धोखा खाजाता है।अपानवायु की दुर्गन्धिसे बसे और बीचमें से चिरेहुए चमड़ेके टुकड़ेकी समान स्त्रीके मूत्रस्थानमें जो पुरुष मग्न रहते हैं वे गन्दी नालीके कीड़ेकी समान क्यों न माने जायँ? इसलिये ही स्त्रीके शरीरको स्पर्श करने का निषेध है तथा उसमें जो निन्दितपनारूप दोष है, इन दोनों दोषों के कारण ही यतिके लिये स्त्रीके शरीरको मुरदेकी समान स्पर्श न करने योग्य कहा है।

येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा।
शून्यं यस्य जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

जिसको, सदा सब आकाश अद्वितीय आत्मासे भराहुआसा भासता है और जिसको मनुष्योंकी चहल पहलका स्थान सूना सा दीखता है उसको देवता ब्राह्मण मानते हैं।

संसारी जीव एकान्तमें रहे तो उसको भय लगे और आलस्य आने लगे अतः उसके लिये एकान्त ठीक नहीं है और मनुष्योंकी चहल पहलका स्थान उसको उपयोगी है, परन्तु योगीके लिये इससे उलटा है, क्योंकि वह निर्जन एकान्त में अकेला रहे तो निर्विघ्न रूपसे ध्यान करसकता है और इससे उसको परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्वसे सब आकाश पूर्ण हुआसा भासता है, इसलिये उसको संसारी की समान आलस्य शोक, मोह आदि नहीं होते हैं।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जिसमें सकल भूत आत्मा ही होरहे हैं ऐसे ज्ञानवान् पुरुषको तथा एकताका अनुभव करनेवाले योगी पुरुषको शोक तो काहेको होय? अर्थात् कदापि नहीं होसकता।

जो स्थान मनुष्योंसे भरा रहता है तहां राजादी तथा और २ बातें हुआ करती हैं इस कारण वह स्थान आनन्दस्वरूप आत्माकी प्रतीति से रहित होकर शून्य स्थानकी समान योगीको क्लेशदायक होता है, क्योंकि-जगत् मिथ्या है और आत्मा पूर्ण है। जीवन्मुक्तिका अति-वर्णाश्रमी नाम देकर उसका वर्णन सूतसंहितामें मुक्तिखण्डके ५ वें अध्यायमें किया है—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
अतिवर्णाश्रमी तेऽपि क्रमाच्छ्रेष्ठा विचक्षणाः ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी (विविदिषा-संन्यासी अर्थात् संन्यास लेकर उसकी साधनामें लगाहुआ) तथा अतिवर्णा-श्रमी ये विचारवान् पुरुष उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम् ।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तम ॥

हे पुरुषोत्तम! अतिवर्णाश्रमी सब अधिकारी पुरुषोंका गुरु है जैसे कि-मैं (शिव) किसीका शिष्य नहीं हूँ, ऐसे ही वह भी किसी का शिष्य नहीं होता है।

अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते ।
तत्समो नाऽधिकश्चास्मिँल्लोकेऽस्त्येव न संशयः ॥

अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरुओंका गुरु कहलाता है, इस लोकमें इसकी समान अथवा उससे अधिक कोई है ही नहीं, इसमें सन्देह नहीं है।

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विभिन्नं सर्वसाक्षिणम् ।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयम्प्रभम् ॥
परं तत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।

शरीर इन्द्रिय आदिसे भिन्न, सबके साक्षी, नित्य ज्ञानरूप सुख-स्वरूप तथा स्वयंप्रकाश इस परमतत्त्वको जो जानता है वह अति-वर्णाश्रमी कहलाता है।

यो वेदान्तमहावाक्यश्रवणेनैव केशव ।
आत्मानमीश्वरं वेद सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥

हे केशव ! जो वेदान्तके महावाक्यको सुनते ही अपने आत्माको ईश्वरसे अभिन्न अनुभव करता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

योऽवस्थात्रयनिर्मुक्तमवस्थासाक्षिणं सदा ।
महादेवं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥

जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंसे रहित तथा सदा तीनों अवस्थाओंके साक्षी महान् देवको जानता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नात्मनो बोधरूपस्य मयि ते सन्ति सर्वदा ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।

वर्णाश्रम आदि धर्म देहमें हैं, आत्माके विषे देहरूप उपाधिके सम्बन्धके कारणसे ही अविद्याके द्वारा कल्पित हैं, बोधस्वरूप मेरे किसी समय भी वर्णाश्रम आदि धर्म नहीं हैं, ऐसा जो वेदान्तके वाक्योंसे जानता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

आदित्यसन्निधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु ।
तथा मत्सन्निधावेव समस्तं चेष्टते जगत् ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।

जैसे प्रातःकालमें सूर्यका उदय होने पर लोग आप ही जागकर अपने २ व्यापारमें लग जाते हैं, ऐसे ही मुझ चैतन्य आत्माकी सत्ता से जगत् व्यवहार कर रहा है, ऐसा जो वेदान्तवाक्योंसे निश्चय कर लेता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

सुवर्णे हारकेयूरकटकस्वस्तिकादयः ।
कल्पिता मायया तद्वज्जगन्मय्येव कल्पितम् ॥ इति यो०

जैसे सोनेमें हार, बाजूबन्द कड़े हमेल आदि गहने कल्पित हैं, ऐसे ही मुझ चेतनात्मामें सब जगत् मायासे कल्पित है, ऐसा जो वेदांतवाक्योंसे निश्चय कर लेता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

शुक्तिकायां यथा तारं कल्पितं मायया तथा ।
महदादि जगन्मायामयं मय्येव कल्पितम् ॥ इति यो० ॥

जैसे सीपीमें अविद्यावश चांदी भासने लगती है ऐसे ही यह महत्तत्त्व आदि मायामय जगत् मुझ चेतनात्मामें भास रहा है, ऐसा जो वेदांतवाक्योंसे जान लेता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

चण्डालदेहे पश्वादिशरीरे ब्रह्मविग्रहे ।
अन्येषु तारतम्येन स्थितेषु पुरुषोत्तम ॥
व्योमवत्सर्वदा व्याप्तः सर्वसम्बन्धवर्जितः ।
एकरूपो महादेवः स्थितः सोऽहं परामृतः ॥इति यो०॥

हे पुरुषोत्तम ! चण्डालके देहमें, पशु आदिके शरीरमें, ब्राह्मणके देहमें तथा परस्पर न्यूनाधिकतावाले अन्य पदार्थोंमें आकाशकी समान सदा व्याप्त एकरूप जो महान् परमात्मदेव स्थित है वह मरणधर्म रहित चेतनात्मा मैं ही हूँ, ऐसा जो वेदान्तवाक्योंसे जानता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्मे भाति तन्नहि॥इति यो०

जिसको दिशाओंका भ्रम होगया हो उसका वह भ्रम सूर्यादि ग्रहोंके उदयको देखनेसे दूर होजाने पर भी संस्काररूपसे रहनेके कारण जैसे प्रतीत होता है तैसे ही यह विश्व ज्ञानसे नष्ट होजाने पर भी मुझे केवल आभासरूपसे प्रतीत होता है, वास्तवमें जगत् है ही नहीं ऐसा जो वेदान्तवाक्योंसे जानता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः ।
तथा जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः॥इति यो०

जैसे स्वप्नका संसार मुझमें मायासे भासने लगता है, ऐसे ही यह जाग्रत्का जगत् भी मुझमें मायाकल्पित है, ऐसा जो वेदान्तवाक्योंसे जानता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान् सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥

आत्मसाक्षात्कार होजानेसे जिसका वर्ण तथा आश्रमोंका आचरण निवृत्त होगया है वह पुरुष सब वर्ण और आश्रमोंको लांघकर अपने आत्मामें स्थित है । आत्मसाक्षात्कारसे देहाभिमान दूर होजानेके कारण देहके साथ उसके वर्ण आश्रम आदिके धर्म भी छूटजाते हैं, अतः वह अतिवर्णाश्रमी होजाता है परंतु ऐसी स्थितिको प्राप्त हुए

विना प्रमाद आलस्य आदि दोषोंके कारण जो पुरुष वर्ण आश्रमोंके आचरणको छोड़ बैठता है वह पतित होजाता है।

यस्त्यक्त्वा स्वाश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान्।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदान्तवेदिभिः॥

जो अपने वर्ण आश्रमके अभिमानको त्याग कर केवल आत्मस्वरूपमें ही स्थित रहता है उसको सब वेदान्तवेत्ता पुरुष अतिवर्णाश्रमी कहते हैं।

न देहो नेन्द्रियं प्राणो न मनो बुद्ध्यहंकृती।
न चित्तं नैव माया च न च व्योमादिकं जगत्॥
न कर्त्ता नैव भोक्ता च न च भोजयिता तथा।
केवलं चित्सदानन्दो ब्रह्मैवात्मा यथार्थतः॥
जलस्य चलनादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः।
तथाऽहङ्कारसंसारादेव संसार आत्मनः॥
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि केशव।
आत्मन्यारोपिता एव भ्रान्त्या ते नात्मवेदिनः॥

आत्मा देह नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, प्राण नहीं है, मन नहीं है, बुद्धि नहीं है, अहंकार नहीं है, चित्त नहीं है, माया नहीं है, आकाश आदि जगत् नहीं है, कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है तथा भोग करानेवाला भी नहीं है, यथार्थमें तो वह केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म है। जैसे जलके हिलनेसे प्रतिबिम्बरूपसे जलमें स्थित सूर्यमें चंचलता प्रतीत होती है, ऐसे ही सब संसार अहङ्कारमें है तो भी उसकी तादात्म्य (एकाकार) अध्याससे आत्मामें मिथ्या प्रतीति होती है। इसलिये हे केशव ! वर्ण और आश्रम जो दूसरेके (अहङ्कारके) धर्म हैं वे केवल अज्ञानी पुरुषोंने भ्रान्तिवश आत्मामें मान लिये हैं, इसलिये आत्मज्ञानीके नहीं हैं॥

न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना।
आत्मविज्ञानिनामस्ति तथा नान्यज्जनार्दन॥
आत्मविज्ञानिनां निष्ठामहं वेदाम्बुजेक्षण।
मायया मोहिता मर्त्या नैव जानन्ति सर्वदा॥

आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषोंके लिये न विधि है, न कुछ त्यागने या ग्रहण करनेकी कल्पना है, जनार्दन ! और कोई लौकिक

व्यवहार भी नहीं है, हे कमलनेत्र ! आत्मज्ञानीकी निद्राको मैं जानता हूँ, मायाके वशीभूत जीव कभी नहीं जानसकते ।

न मांसचक्षुषा निद्रा ब्रह्मविज्ञानिनामियम् ।
द्रष्टुं शक्या त्वया सिद्धा विदुषां सैव केशव ॥
यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी ।
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान् सुषुप्तस्तत्र केशव ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंकी यह निद्रा केवल मांसमय नेत्रोंसे नहीं देखी जा सकती है केशव ! विद्वान् पुरुषोंकी यह स्वतः सिद्ध निद्रा है। जिसमें साधारण मनुष्य सदा सोते हैं उसमें संयमी जागता है, और हे केशव ! जिसमें साधारण मनुष्य जागते हैं उसमें संयमी सोता है।

एवमात्मानमद्वन्द्वं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
नित्यशुद्धं निराभासं चिन्मात्रं परमामृतम् ॥
यो विजानाति वेदान्तैः स्वानुभूत्या च निश्चितम् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः स एव गुरुरुत्तमः ॥

इस प्रकार अद्वितीय, निर्विकार, निरञ्जन, नित्य शुद्ध, आभास-रहित, चैतन्यस्वरूप तथा सदा मरणधर्मरहित आत्माको जो पुरुष वेदान्तवाक्योंसे और अपने अनुभवसे निश्चय करके जानलेता है वह अतिवर्णाश्रमी कहलाता है और वही उत्तम गुरु है ।

इसप्रकार "विमुक्तश्च विमुच्यते" इत्यादि पहिले कही हुई श्रुतियोंके वचन तथा जीवन्मुक्त गुणातीत, ब्राह्मण और अतिवर्णाश्रमीके स्वरूपको कहनेवाले स्मृतियोंके वाक्य जीवन्मुक्ति होनेमें प्रमाण हैं ।

इति जीवन्मुक्तिप्रकरण समाप्त ।

अथ वासनाक्षयप्रकरणम्

अब जीवन्मुक्तिके साधनका वर्णन करते हैं । तत्त्वज्ञान, वासना-क्षय और मनोनाश ये तीन मिलकर एक जीवन्मुक्तिका साधन हैं, इसलिये श्री योगवासिष्ठके उपशमप्रकरणमें भगवान् वसिष्ठमुनि कहते हैं, कि—

वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा इमे ॥

हे महामते ! वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान और मनोनाशका चिरकाल तक एक साथ सेवन करने पर ये फलदायक होते हैं।

यह इन तीन साधनोंका अन्वय कहा है अर्थात् इन तीनों साधनों का अभ्यास करनेसे ही जीवन्मुक्तिरूप फल प्राप्त होता है। अब व्यतिरेक कहिये इन तीनों साधनोंका अभ्यास न करनेसे जीवन्मुक्ति हो ही नहीं सकती, यह दिखाते हैं—

त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ।
तावन्न पदसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥

जब तक इन तीनोंका दृढरूपसे वारंवार अभ्यास नहीं कियाजाता है तबतक सौ वर्ष पर्यन्त भी परमात्मपदकी प्राप्ति नहीं होती है। यदि इन तीनोंका एकसाथ अभ्यास न कियाजाय तो यह बाधा पड़ती है, कि—

एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः संकलिता इव ॥

यदि इन तीनोंमेंसे एक २ का अलग२ चिरकाल पर्यन्त पूर्ण सेवन किया जाय तो भी ये एक कर्ममें एकसाथ विनियुक्त मंत्रोंकी समान फल नहीं देते हैं। अर्थात् जैसे सन्ध्यावन्दनमें मार्जनके लिये एकसाथ विनियोगकी हुई तीन ऋचायें हैं उनमेंसे प्रतिदिन एक २ ऋचाको पढ़नेसे शास्त्रके अनुसार मार्जन कर्म सिद्ध नहीं होता है तथा जिस प्रकार रुद्राभिषेक करनेमें विनियुक्त षडङ्गके मंत्रोंमेंसे प्रतिदिन एक२ मंत्रके द्वारा अभिषेक करनेसे रुद्राभिषेक नामक शास्त्रीय कर्मकी यथार्थ सिद्धि नहीं होती है और जिसप्रकार संसारमें पात्रमें परोसे हुए शाक, दाल, भात आदिमेंसे केवल एक२ वस्तुको अलग२ खाया जाय तो ठीक २ भोजन करनेकी सिद्धि नहीं होती है, इसप्रकार ही वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान और मनोनाश इन तीनोंमेंसे एक २ का अलग२ सेवनसे करनेसे जीवन्मुक्तिरूप अलौकिक फलकी सिद्धि नहीं होती है। अब चिरकाल तकके अभ्यासका प्रयोजन कहते हैं, कि—

त्रिभिस्तैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
निःशङ्कमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद् गुणा इव ॥

वासनाक्षय आदि तीनोंका चिरकाल अभ्यास करनेसे अतिदृढ हृदयकी ग्रन्थियें ऐसे टूटजाती है जैसे कमलकी नालको तोड़देनेसे उसके तन्तु टूट जाते हैं, इसमें तनिक सन्देह नहीं है। और

इनका चिरकाल अभ्यास न करनेसे संसार नहीं छूटता, इस बातको कहते हैं—

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥

हे राम! सैकड़ों जन्मोंसे जिसका परिचय चला आरहा है, ऐसे इस संसारका जमाव, तत्त्वज्ञान आदि तीनोंका चिरकालतक अभ्यास किये विना कभी भी क्षयको प्राप्त नहीं होता है। तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय इनमेंसे केवल एक २ का अलग २ अभ्यास करने पर कोई फल नहीं होता इतना ही नहीं किंतु इनमेंसे किसी एक का स्वरूप भी सिद्ध नहीं होता।

तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि॥

तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय ये तीनों परस्पर एक दूसरे के कारण होकर दुःसाध्य होजाते हैं।

इन तीनोंमेंसे दो २ के जोड़े बनाये जायँ तो तीन जोड़े होते हैं, उनमेंसे मनोनाश वासनाक्षय नामके जोड़ेका परस्परका कारणपना व्यतिरेकके द्वारा बताते हैं—

यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥

जबतक मन विलीन नहीं होता तब तक वासनाका क्षय नहीं होता है और जब तक वासना क्षीण नहीं होती है तब तक चित्त शान्त नहीं होता है।

दीपककी शिखाके सन्तान (प्रवाह) की समान वृत्ति नामक सन्तान रूपसे परिणामको प्राप्त हुआ अन्तःकरण नामका पदार्थ मननरूपमें होनेके कारण मन कहलाता है. इस मनका नाश अर्थात् वृत्तिरूप परिणाम निवृत्त होकर उसका निरुद्ध आकारमें परिणाम होजाना है। यही बात भगवान् पतञ्जलिने सूत्ररूपमें कही है—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ।
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥

जब चित्तके व्युत्थानसंस्कार (स्फुरण होनेके संस्कार) शान्त होजाते हैं और निरोधसंस्कार प्रकट होते हैं, उस समय चित्त निरोध क्षणके अनुकूल होता है, यह चित्तका निरोधपरिणाम कहलाता

है इस प्रकारके चित्तके निरोधपरिणामको ही मनोनाश समझो। पूर्वापरका विचार किये बिना अकस्मात् अन्तःकरणमें से उठनेवाली क्रोध आदि अनेकों वृत्तियोंका हेतुरूप जो चित्तमेंका संस्कार है उसका ही नाम वासना है, क्योंकि-पूर्व २ के अभ्यासके कारण चित्तमें दृढ जाता है, इस लिये वह संस्कार वासना कहलाता है। उक्त वासनाका क्षय अर्थात् विवेकजन्य शम दम आदि शुद्ध वासनाओंके दृढ होनेसे, बाहरी उत्तेजक कारणोंके समीप होने पर भी क्रोध आदिका उत्पन्न न होना। और यदि मनोनाशके न होनेसे वृत्तियें उत्पन्न होती हों तो कदाचित् बाहरी कारणवश क्रोध आदि के उत्पन्न होजानेसे वासनाका क्षय नहीं होता है। ऐसे ही वासना का क्षय न हुआ तो वासनाके बलसे वृत्तियोंका स्फुरण होनेके कारण मनोनाश नहीं होता है, इसलिये दोनोंका एकसाथ अभ्यास होना आवश्यक है। अब तत्त्वज्ञान और मनोनाशकी परस्पर कारणता को व्यतिरेकसे दिखाते हैं—

> यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः।
> यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्॥

जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता तबतक चित्तको शान्ति कहांसे हो? और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं हुई तब तक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता।

यह सब जो कुछ प्रतीत होरहा है सो सब आत्मा ही है। रूप, रस आदि अनेकवस्तुरूप विश्व मायामय है, वास्तवमें वह है ही नहीं ऐसा निश्चय तत्त्वज्ञान कहलाता है। जबतक यह तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता तबतक रूप रस आदि विषयोंका लगाव ज्योंका त्यों रहनेके कारण उन विषयोंको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुई वृत्तियों को नहीं रोका जा सकता, जैसे कि-जबतक आगमें ईंधन डाला जाता रहेगा तबतक उस आगकी लपटें शान्त नहीं होसकेंगी। 'यजमानः प्रस्तरः' अर्थात् यजमान कुशाओंका मुट्ठा है, इस वाक्यको सुननेवाला पुरुष कुशाके मुट्ठेको अचेतन और यजमानको चेतनरूपमें अनुभव करनेवाला है अतः उसको जैसे 'यजमानः प्रस्तरः' इस वाक्यके अर्थमें प्रत्यक्ष विरोध भासता है, ऐसे ही जबतक जिस पुरुषके मन का नाश नहीं होता है तबतक वह पुरुष वृत्तियोंसे विषयोंका साक्षात् अनुभव करता है "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (यहां कुछ भी नाना वस्तु नहीं है) इस श्रुतिमें प्रत्यक्षविरोधकी शङ्कामें पड़जाता है, इस

कारण पूर्वोक्त श्रुतिसे "अद्वितीय ब्रह्म ही है, उससे भिन्न किसी पदार्थकी सत्ता है ही नहीं" ऐसा तत्वनिश्चय उसको नहीं होता है, इसकारण तत्वज्ञान और मनोनाशकी परस्पर कारणता सिद्ध ही है। अब वासनाक्षय और तत्वज्ञानकी परस्पर कारणताको व्यतिरेक के द्वारा दिखाते हैं—

यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।
यावन्न तत्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥

जबतक वासनाका क्षय नहीं हुआ तबतक तत्वज्ञानकी प्राप्ति कैसे होसकती है ? ऐसे ही जबतक तत्वज्ञानका लाभ नहीं होता तबतक वासनाका क्षय भी नहीं होसकता ।

जबतक क्रोध आदि वासनाका नाश नहीं होता तबतक ज्ञानके शमदम आदि साधनोंका अभाव रहनेसे तत्वज्ञानका उदय होता ही नहीं । ऐसे ही जबतक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका साक्षात् अनुभव नहीं होता तबतक क्रोधादि वृत्तियोंके निमित्तोंमेंसे सत्यताकी भ्रान्ति निवृत्त न होनेके कारण वासनाका भी क्षय नहीं होता है ।

मनोनाश और वासनाक्षयका जोड़ा, तत्वज्ञान और मनोनाशका जोड़ा तथा वासनाक्षय और तत्त्वज्ञानका जोड़ा; इन तीनों जोड़ोंकी परस्पर कारणता व्यतिरेकके द्वारा प्रमाणपूर्वक दिखादी, अब इन तीनोंकी परस्पर कारणताको व्यतिरेकके द्वारा दिखाते हैं-

जब मनका नाश होजाता है उस समय संस्कारोंको जगानेवाले बाहरी कारण नहीं रहते, इसलिये वासनाका क्षय होजाता है । इस प्रकार ही वासनाओंका क्षय होजानेसे क्रोधादि वृत्तिओंको प्रकट करनेवाले हेतुओं (वासनाओं) का नाश होजानेसे वे वृत्तियें फिर उदय नहीं होती हैं, इसलिये मनका भी नाश होजाता है । इसप्रकार मनोनाश और वासनाक्षयके जोड़ेकी परस्पर कारणता है। "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" एकाग्रताको प्राप्त हुई बुद्धिसे आत्मसाक्षात्कार होता है । इस श्रुतिके प्रमाणसे अद्वितीय आत्माकी ओरको झुकी हुई वृत्ति आत्मसाक्षात्कारमें कारण होती है, इससे सिद्ध हुआ कि-अन्य सब वृत्तियोंका नाश होना ही तत्वज्ञानका कारण है । तत्वज्ञान होजाने पर नर-विषाण (मनुष्यके शिरके सींग) की समान मिथ्या संसारमें बुद्धिवृत्तिका उदय नहीं होता और आत्माका साक्षात्कार तो हो ही चुका है, इस लिये उसके लिये फिर वृत्तिकी आवश्यकता

नहीं है, अतः जैसे काठके न होने पर अग्नि शान्त होजाती है (बुझ जाती है) ऐसे ही वृत्तिका भी किसी विषयमें जानेका प्रयोजन न होनेसे मन आप ही शान्त होजाता है। इसप्रकार मनोनाश और तत्त्वज्ञान के जोड़े की परस्पर कारणता है। तत्त्वज्ञान क्रोध आदि वासनाके क्षयका कारण है यह बात वार्त्तिककारने कही है-

रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव॥

हरएक अङ्गका जुदा २ अभिमानी नहीं है, परन्तु सब अङ्गोंके समूहरूप पूर्ण अङ्गका अभिमानी एक मैं हूँ, जो ऐसा देखता है वह पुरुष एक अङ्गसे दूसरे अङ्ग पर चोट लगजाने पर चोट मारने वाले अङ्ग पर जिस प्रकार क्रोध नहीं करता है ऐसे ही विवेकी पुरुष जो कि-शत्रु, कुटुम्बी और अपने शरीरमें एक ही आत्माका अनुभव करता है उसको शत्रु आदिके ऊपर क्रोध कैसे आसकता है? क्रोध आदि वासनाका क्षयरूप जो शम आदि गुण वे ज्ञानके साधक हैं, यह बात तो प्रसिद्ध ही है। भगवान् वशिष्ठजी भी कहते हैं।

गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथाज्ञता।
परस्परं विवर्धेते द्वे पद्मसरसी इव॥

ज्ञानसे शम आदि गुण प्राप्त होते हैं और शम आदि गुणोंसे ज्ञान प्राप्त होता है, इसप्रकार तालावके दो कमलोंकी समान दोनों एक दूसरेके आश्रयसे बढ़ते हैं॥

इसप्रकार वासनाक्षय और तत्त्वज्ञानके जोड़ेकी कारणता भी दिखादी। अब तत्त्वज्ञान आदि तीनोंको पानेका साधन कहते हैं-

तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत्॥

इसलिये हे राम! विवेकी पुरुष उद्योग के साथ भोगकी इच्छाओं का पूरा २ त्याग करके तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षयका भले प्रकार आश्रय लेय।

जैसे भी होसकेगा अपने अभिलषित फलको अवश्य पाऊँगा, ऐसा उत्साहरूप निश्चय पुरुषका प्रयत्न कहलाता है विवेचनपूर्वक निश्चय को विवेक कहते हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन तत्त्वज्ञानका साधन है। मनोनाशका साधन योग है। विरोधी वासनाओंको

उत्पन्न करना वासनाक्षयका साधन है । यदि थोड़ीसी भी भोगकी इच्छाको स्वीकार करलिया जाय तो—

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्धते ।

जैसे घी छोड़नेसे अग्नि बढ़ती है ऐसे ही विषयभोगकी लागसे-विषयवासना बढ़ती चली जाती है । ऐसे बढ़तेर भोगकी इच्छा इतनी बढ़ जाती है कि-फिर उसका निवारण करना कठिन होजाता है, इस लिये विषयवासनाको निःशेष रूपसे त्यागना कहा है । यहाँ शङ्का होती है, कि-विविदिषा संन्यासका फल तत्त्वज्ञान है और विद्वत्संन्यास का फल जीवन्मुक्ति है । यह बात पहले कही जाचुकी है, इस से यह बात सिद्ध होती है, कि-पहले तत्त्वज्ञानका सम्पादन करके जीवन भर बन्धनरूप वासना और मनकी वृत्तियोंका नाश तथा इस अवसर पर तत्त्वज्ञान आदि तीनोंका अभ्यास एकसाथ करे, ऐसे नियम करने पर पूर्वापर विरोध आता है ? इसका उत्तर यह है कि-विविदिषा संन्यासीको तत्त्वज्ञानका अभ्यास प्रधानरूपसे करना चाहिये और वासनाक्षय तथा मनोनाशके लिये गौणरूपसे अभ्यास करना चाहिये । विद्वत्संन्यासके लिये इससे उलटा है अर्थात् वह तत्त्वज्ञानका अभ्यास गौणरूपसे करे तथा वासनाक्षय और मनोनाशके लिये प्रधानरूपसे अभ्यास करे । इसप्रकार गौण प्रधान भावसे तीनों का अभ्यास करनेमें कुछ विरोध नहीं आता है । यदि कहो, कि-तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे ही जो कृतार्थ हुआ है ऐसे पुरुषको फिर मनोनाश और वासनाक्षयके लिये परिश्रम करनेकी क्या आवश्यकता है ? तो जीवन्मुक्तिके प्रयोजनको कहते समय इस शंकाका समाधान स्वयं होजायगा । यहां यह शंका भी होती है, कि-विद्वत्संन्यासीको पहले ही ज्ञान प्राप्त होचुका है इसलिये उसको श्रवण आदि साधनोंका अनुष्ठान करना व्यर्थ है और तत्त्वज्ञान स्वयं वा श्रवण आदि साधन के विना होता नहीं है, इसलिये तत्त्वज्ञानका गौणरूपसे अभ्यास भी किस प्रकारका होना चाहिये ? इसका उत्तर यह है, कि-किसी भी प्रकारसे वारंवार तत्त्वका स्मरण करना ही यहाँ अभ्यास कहलाता है । ऐसा अभ्यास योगवाशिष्ठमें लीलाकी कथामें बताया है ।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वञ्च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः ॥
संसर्गादेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।

इदं जगदहश्चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् ॥

उसका ही चिन्तवन, उसका ही कथन, आपसमें उसका ही उपदेश तथा उसमें ही निमग्न रहना इसको विद्वानोंने ब्रह्माभ्यास माना है। दीखनेवाला यह जगत् और मैं सृष्टिके आदि कालमें उत्पन्न ही नहीं हुए थे और त्रिकालमें हैं ही नहीं, ऐसे विचारको श्रेष्ठ ब्रह्माभ्यास कहते हैं।

मनोनाश और वासनाके क्षयका अभ्यास भी लीलाकी कथामें ही दिखाया है—

अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुतः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते तत्राभ्यासिनः स्मृताः ॥

जो पुरुष ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुके अत्यन्त अभावकी प्रतीति होनेके लिये शास्त्र और युक्तिसे उद्योग करते हैं वे अभ्यासी कहलाते हैं। ज्ञाता तथा ज्ञेयमें मिथ्यात्वकी बुद्धि करना ही उनके अभावकी प्रतीति है और इनके स्वरूपकी अप्रतीति भी उन ज्ञाता और ज्ञेयके अत्यन्ताभावकी प्रतीति मानी जाती है। युक्तिका अर्थ है योगसाधन। योगाभ्यास सत्-शास्त्रके अभ्याससे जो ज्ञाता और ज्ञेय आदि सब जगत्की अप्रतीति होनेका प्रयत्न करता है वह ब्रह्माभ्यासी कहलाता है। ऐसा अभ्यास ही मनोनाशका अभ्यास कहलाता है।

दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्नवोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ॥

दीखनेवाले प्रपञ्चके असम्भवपनेका ज्ञान होजानेसे राग द्वेष आदिके क्षीण होनेके विषयमें जो नवीन रति उत्पन्न होती है वही ब्रह्माभ्यास कहलाता है।

यही वासनाके क्षयका अभ्यास कहलाता है। (शङ्का) यह तीनों प्रकारका अभ्यास एकसा ही प्रतीत होता है तब कौनसा अभ्यास प्रधान और कौनसा गौण है यह प्रतीति कैसे होगी? (उत्तर) प्रयोजनके अनुसार मालूम होसकते हैं, यथा-मुमुक्षु पुरुषके दो प्रयोजन हैं-जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। अतएव श्रुति भी कहती है, कि-"विमुक्तश्च विमुच्यते" तहाँ जीवित पुरुषका मोक्ष दैवी सम्पत्तिसे होता है और आसुरी संपत्ति उसका बन्धन है। यही बात १६वें अध्यायमें भगवान्ने भी कही है-

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

दैवी सम्पत्ति मोक्षके लिये और आसुरी सम्पत्ति बन्धनके लिये मानी गयी है । ये दोनों सम्पत्तियें भी वहाँ ही कही हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

अभय, अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञान तथा योगकी साधना में लगे रहना, दान, इंद्रियोंको वशमें रखना, देवपूजन, वेदादि शास्त्रोंका पठन, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, पीछे किसीकी निंदा न करना, प्राणियोंके ऊपर दया करना, लालच न करना, कोमलता, लोकलज्जा, चपलता न होना, तेज, क्षमा, धीरज, भीतर बाहर की शुद्धता, किसीसे द्रोह न करना, अपना सन्मान करानेकी बुद्धि न होना ये दैवी संपत्तिये उनमें ही होती हैं जिनका आगेको कल्याण होनेवाला होता है । दम्भ, गर्व, अभिमान, क्रोध, किसीको कठोर वाक्य कहना तथा अज्ञान ये आसुरी संपत्तियें उनमें ही होती हैं, जिनका आगेको अनिष्ट होनेवाला होता है ।

यह आसुरी संपत्तिका वर्णन गीतामें १६ वें अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त किया है । शास्त्रकी आज्ञानुसार किये हुए पुरुषके उद्योगसे सिद्ध होनेवाली शुभवासनारूप दैवी संपत्तिसे जब शास्त्रविरुद्ध स्वाभाविक दुर्वासनारूप आसुरी सम्पत्तिका नाश होजाता है तब ही जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है । वासनाक्षयकी समान मनोनाश भी जीवन्मुक्तिका कारण है, यही बात श्रुतिमें भी कही है-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मतम् ॥

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥
निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानञ्च ध्यानञ्च शेषो न्यायस्य विस्तरः ॥

मन ही मनुष्योंको बन्धनमें डालनेवाला है और मन ही मोक्ष देने-वाला है। विषयोंमें प्रेम करनेवाला मन बन्धनमें डालता है और विषयोंको छोड़ देय तो मुक्ति देता है। क्योंकि-विषयशून्य मन की मुक्ति होती है, यह बात मानी हुई है इसलिये मुमुक्षुको चाहिये कि-मनको सदा विषयोंसे हटाता रहे। विषयोंके संसर्गसे रहित हृदयमें रोकाहुआ मन जब उन्मनी दशाको प्राप्त होजाता है उस समय वह परमपद ब्रह्मरूपको पाजाता है। जब तक उसका क्षय होय तबतक उसको हृदयमें रोके। मनका निरोध ही ज्ञान और ध्यान है, इसके बिना और जो कुछ भी है सो सब युक्तियोंका विस्तार ही है।

बन्धन दो प्रकारका होता है-एक तीव्र बन्धन और दूसरा कोमल बन्धन। आसुरी सम्पत्ति साक्षात् क्लेशका कारण है इस कारण वह तीव्र बन्धन माना जाता है और द्वैतमात्रकी प्रतीति स्वयं क्लेश-रूप नहीं है तो भी आसुरी संपत्तिको उत्पन्न करनेवाली है इसलिये वह कोमल बन्धन कहलाती है। तहां वासनाका क्षय होनेसे तीव्र बंधन दूर होजाता है और मनोनाशसे दोनों बंधन दूर होजाते हैं।

यहां शङ्का होती है कि-यदि ऐसा है तब तो मनका नाश ही पर्याप्त है फिर वासनाक्षयकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि-भोग देनेवाले प्रबल प्रारब्धसे जब मनका व्युत्थान (उचाटता) होजाता है उस समय तीव्रबन्धनका निवारण करनेके लिये वासनाक्षयकी आवश्यकता है। क्योंकि-भोगकी सिद्धि तो विषयकी प्रतीतिरूप कोमल बंधनसे भी होसकती है। तामसी वृत्तियें तीव्रबन्धन हैं और सात्त्विक तथा राजस वृत्तियोंको कोमल बंधन कहा है। यही बात-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

इस श्लोककी व्याख्यामें स्पष्ट कर दी है। यहां शंका होती है कि-

कोमल बन्धन हों भी तो कुछ हानि नहीं है, हानिकारक तीव्र बन्धन ही है, इसलिये वह तो वासनाक्षयसे ही दूर होजाता है उसके लिये मनोनाशकी क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह है, कि- दुर्बल प्रारब्धसे प्राप्त हुए अवश्यम्भावी भोगोंके प्रतीकारके लिये मनोनाशकी आवश्यकता है। मनोनाशके बिना और किसी उपायसे भी अवश्यम्भावी भोग नहीं हटाया जासकता। इस बातको ही यह वचन कहता है-

अवश्यम्भावि भावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥

अवश्य होनेवाले भोगोंका यदि कोई और उपाय होता तो नल, राम और युधिष्ठिर सरीखोंको दुःख भोगना ही नहीं पड़ता।

इसप्रकार वासनाक्षय और मनोनाश जीवन्मुक्तिका साक्षात् साधन होनेसे विद्वत्संन्यासी को प्रधानताके साथ इनका अभ्यास करना चाहिये। और तत्त्वज्ञान तो इन दोनोंकी उत्पत्तिके द्वारा व्यवहित कारणरूप है अतः उसका गौणरूपसे अभ्यास करना चाहिये। तत्त्वज्ञान वासनाक्षयका कारण है, यह बात बहुतसी श्रुतियोंमें कही है-

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिःक्षीणैःक्लेशैःसर्वमृत्युप्रहाणिः।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

परमात्मदेवके ज्ञानसे सकल बन्धन दूर होजाते हैं, क्लेशोंका क्षय होनेसे जन्म मरण दूर होते हैं, अध्यात्मज्ञानकी प्राप्तिसे परमात्मदेव का साक्षात्कार करके धीर पुरुष हर्ष शोकको त्यागता है।

तरति शोकमात्मवित् ।

आत्मज्ञानी पुरुष शोकके पार होजाता है ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

सर्वत्र एक अद्वितीय आत्मवस्तुका साक्षात् अनुभव करनेवाले पुरुषको शोक और मोह कैसे होसकते हैं ? कदापि नहीं होसकते।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

परमात्मदेवको जानकर सकल बन्धनोंसे छूटजाता है।

तत्त्वज्ञान मनोनाशका भी कारण है, यह बात भी श्रुतिके प्रमाण से ही सिद्ध है। विद्यादशाको अङ्गीकार करके यह श्रुति है—

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् तेन कं जिघ्रेत्।

जिस विद्यादशामें इस अविकारी पुरुषको सब आत्मा ही होगया है उस अवस्थामें वह किसके द्वारा किसको देखे ? और किसके द्वारा किसको सूँघे ? गौड़पादाचार्य भी कहते हैं-

आत्मतत्त्वानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तद्ग्रहः ॥

आत्मस्वरूपके साक्षात्कारसे जब संकल्परहित होजाता है तब अविकारी पुरुष अमनस्क भावको पाजाता है, तत्त्वज्ञान होजाने पर ग्रहण करनेयोग्य कोई पदार्थ रहता ही नहीं इस कारण वह वृत्तिसे किसी विषयको भी ग्रहण नहीं करता है ।

जैसे जीवन्मुक्तिका साक्षात् साधन वासनाक्षय और मनोनाश है ऐसे ही विदेहमुक्तिका साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान है, अतः विदेहमुक्ति के लिये प्रधानरूपसे ज्ञानके अभ्यासका सेवन करना चाहिये ।

ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते ।

ज्ञानसे ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है कि-जिस कैवल्यके द्वारा जीव संसारसे मुक्त होजाता है । कैवल्यका अर्थ है देहादि रहितपना,वह केवल ज्ञानसे ही प्राप्त होता है । इस वाक्यमें 'एव' पद कर्मकी निवृत्तिके लिये दिया है "न कर्मणा न प्रजया धनेन०" कर्म, प्रजा और धन आदिसे मुक्ति नहीं मिलती है । यह श्रुति भी कहती है, कि-जो पुरुष ज्ञानशास्त्रका अभ्यास किये बिना केवल मनोनाश और वासनाक्षयका ही अभ्यास करके सगुण ब्रह्मकी उपासना करता है उसके लिङ्गशरीरका नाश नहीं होता, इस कारण वह कैवल्यको नहीं पाता है, अतएव वासनाक्षय और मनोनाशसे भी कैवल्यकी प्राप्ति नहीं होती है, यह भाव भी 'एव' पदसे निकलता है । ऊपरके श्लोक में जो 'येन मुच्यते' पद हैं उनका यह अर्थ है, कि-ज्ञानके प्राप्त कराये हुए जिस कैवल्यसे सब बन्धनोंसे मुक्त होता है । अविद्याग्रन्थि, अब्रह्मत्व, हृदयग्रंथि, संशय, कर्म, सर्वकामत्व, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि अनेकों शब्दोंसे अनेकों स्थलोंमें बन्धनका वर्णन किया है । बन्धन अनेकोंप्रकारका है । ये सब बन्धन अज्ञानसे होते हैं, इसलिये वे ज्ञानसे दूर होते हैं । नीचेकी श्रुतियें इस विषयमें प्रमाण हैं ।

एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्यां ग्रन्थिं
विकिरतीह सौम्य ।

हे सौम्य ! बुद्धिरूप गुहामें स्थित इस आत्मस्वरूपको जो जानता

है, वह यहां ही अविद्याग्रन्थिको खोलकर छोड़जाता है । "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होजाता है।

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

उस परमात्माका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी गांठ खुलजाती है, सब सन्देह दूर होजाते हैं और साधकके कर्मोंका क्षय होजाता है ।

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ।

जो हृदयाकाशरूप गुहामें स्थित ब्रह्मको जानता है वह अभिलाषाओंको एक साथ पाजाता है ।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।

अधिकारी पुरुष उस ब्रह्मको जानकर मोक्ष पाता है ।

यस्तु विज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥

जो अमनस्कभावको प्राप्त हुआ पवित्र पुरुष विज्ञानको पाजाता है वह परमात्मपदको पानेका अधिकारी होजाता है, जिससे कि-फिर उसको संसारमें जन्म धारण करना नहीं पड़ता ।

य एवं वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मीति स इदं सर्वं भवति ।

जो साक्षात् रूपसे इस बातका अनुभव करता है, कि-मैं ब्रह्म हूँ वह सर्वरूप होजाता है । ये सब वाक्य 'असर्वज्ञत्व' आदि बन्धन दूर होनेके उदाहरण हैं, वह जीवन्मुक्ति ज्ञानकी उत्पत्तिके साथ २ ही उत्पन्न होजाती है । क्योंकि--ब्रह्ममें आरोपित (माने हुए) इन सब बन्धनोंका नाश होजाने पर वे फिर उत्पन्न नहीं होते हैं, अनुभव में भी नहीं आते हैं । विद्याके प्राप्त होते ही बन्धन दूर होजाता है । यह बात भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने समन्वयसूत्रके भाष्यमें विस्तारके साथ कही है ।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।

उस ब्रह्मके साक्षात्कारसे आगेको पापका स्पर्श नहीं होता और पहले पापका नाश होजाता है, श्रुतिमें ऐसा ही कहा है । यहां शङ्का होती है कि-वर्त्तमान शरीरका पात होजाने पर विदेहमुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा बहुतसे कहते हैं, तथा—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये ।

उस ज्ञानी पुरुषकी विदेहमुक्तिमें तबतकका ही विलम्ब है कि—जबतक वर्त्तमान देहसे विलग नहीं होता है और ऐसा होते ही ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होजाता है । वाक्यवृत्तिमें भी ऐसा ही कहा है ।

प्रारब्धकर्मवेगेन जीवन्मुक्तो यदा भवेत् ।
कञ्चित्कालमथारब्धकर्मबन्धस्य संक्षये ॥
निरस्तातिशयानन्दं वैष्णवं परमं पदम् ।
पुनरावृत्तिरहितं कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥

अधिकारी पुरुष जब जीवन्मुक्त होजाता है तब प्रारब्धकर्मके वेगसे कुछ काल अनुभव करके प्रारब्धकर्मका क्षय होजाने पर पुनरावृत्तिरहित निरतिशय आनन्दस्वरूप सर्वोत्तम परमात्माके कैवल्य पदको पाता है । सूत्रकारने भी कहा है—

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ।

भोगसे पुण्य पापरूप प्रारब्धका क्षय करके परमात्म स्वरूपमें अभेदको पाजाता है । वशिष्ठजी भी कहते हैं—

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥

जैसे चलनेवाला वायु निष्पन्द (स्थिर) अवस्थाको पाजाता है ऐसे ही जीवन्मुक्त पुरुष अपना शरीर कालके वशमें होजाने पर जीवन्मुक्त दशाको त्यागकर विदेहमुक्त पदमें प्रवेश करता है।इसका समाधान यह है, कि-अभिप्रायके भेदको लेकर मतभेद भासता है । वास्तवमें मतभेद नहीं है । जिस मरणके अनन्तर विदेहमुक्ति मानते हो, उस विदेहमुक्ति पदमें देह शब्दसे स्थूल देह लिया जाता है। स्थूल देह की निवृत्ति तो मरणके अनन्तर ही होती है, इसलिये ऐसा कहने वालोंका यह तात्पर्य है, कि-मरणके अनन्तर विदेहमुक्तिमें प्रवेश होना ही ठीक है और हम तो भावी (आगेको होनेवाले) देहकी निवृत्तिको ही विदेहमुक्ति कहते हैं, क्योंकि-आगेको देह धारण न करना पड़े, इसलिये ही ज्ञानकी प्राप्ति कीजाती है । वर्त्तमान देहका आरम्भ तो ज्ञान होनेसे पहले ही होचुका है, इसलिये वर्त्तमान देहका निवारण तो ज्ञानसे भी नहीं होसकता, वर्त्तमान शरीरकी निवृत्ति ज्ञानका फल नहीं है, क्योंकि-प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होने पर अज्ञानियोंका भी वर्त्तमान देह निवृत्त होजाता है ।

यहां शङ्का होती है, कि-यदि वर्त्तमान स्थूल देहकी निवृत्ति ज्ञान का फल नहीं है तो वर्त्तमान लिङ्ग शरीरके नाशको ज्ञानका फल मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान हुए बिना लिङ्ग शरीरका नाश नहीं होता है।

इसका उत्तर यह है, कि-यह कहना ठीक है, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषको ज्ञान प्राप्त होजाने पर भी उसके लिङ्गशरीरका नाश नहीं होता है, इसलिये ज्ञानका फल लिङ्गशरीरकी निवृत्तिको भी नहीं कहा जा सकता।

फिर शङ्का होती है कि-यद्यपि प्रारब्धकर्म अपने स्थितिकाल तक ज्ञानका प्रतिबन्धक होनेसे जबतक प्रारब्धशेष रहता है तब तक लिङ्ग-शरीरकी निवृत्ति नहीं होती है, तथापि प्रारब्धरूप कर्मका क्षय होजाने पर ज्ञानसे लिङ्गशरीरकी निवृत्ति होगी, इसलिये ज्ञानका फल लिङ्ग-देहकी निवृत्ति है, ऐसा कहनेमें कोई बाधा नहीं है।

इसका उत्तर यह है कि-तेज और अन्धकारकी समान ज्ञान ही अज्ञानका विरोधी है। लिङ्गशरीर तो अज्ञानका कार्य है अतःउसका अज्ञानके साथ विरोध हो ही नहीं सकता। इसलिये ज्ञानसे अज्ञान की ही निवृत्ति होती है यह बात पद्मपादाचार्यने कही है।

इस पर प्रश्न होता है कि-तो लिंगदेहकी निवृत्तिका साधन क्या है?

इसका उत्तर यह है कि-जिस सामग्रीसे लिङ्गदेह उत्पन्न हुआ है उस सामग्रीकी निवृत्तिसे ही लिङ्गदेहकी निवृत्ति होती है। कार्यकी निवृत्ति दो प्रकारसे ही होती है, या तो कोई विरोधी उपस्थित हो जाय या उसकी उत्पत्तिकी सामग्री ही निवृत्त होजाय,जैसे तेल बत्ती आदि दीपककी सामग्रीके होते हुए भी विरोधी वायुके होने पर दीपक निवृत्त होजाता है(बुझजाता है)इसप्रकार लिङ्गदेहका साक्षात् विरोधी तो कोई पदार्थ देखनेमें आता नहीं, इसलिये वह अपनी सामग्रीकी निवृत्तिसे ही निवृत्त होता है। लिङ्गदेहके उत्पन्न होनेकी सामग्री दो प्रकारकी है-एक तो प्रारब्धकर्म और दूसरा सञ्चित आदि अनारब्ध कर्म। अज्ञानीका लिङ्ग शरीर इन दोनों सामग्रियोंसे इस लोक और परलोकमें बना रहता है, परन्तु ज्ञानीके अनारब्ध कर्मोंकी ज्ञानसे निवृत्ति होजाती है तथा कर्मकी निवृत्ति भोगसे होजाती है। जैसे तेल बत्ती रूप सामग्रीके न रहने पर दीपक बुझ जाता है ऐसे ही ज्ञानीका लिङ्ग देह दोनों प्रकारके कर्म रूप सामग्रीके न रहने पर नहीं रहता।

यहां शङ्का होती है, कि—तब तो यह सिद्ध होगया कि—भावी देहका आरम्भ न होना भी ज्ञानका ही फल है, परन्तु यह तो होता नहीं है, क्योंकि—क्या भावी देहका आरम्भ न होना ही ज्ञानका फल है या भावी देहके अनारम्भका पालन ? अर्थात् अनारम्भ सदाकाल रहे यह भी उसका फल है ? इसमें पहली बात, कि-भावी देहका आरम्भ न होना ज्ञानका फल है, ऐसा कहना तो बन नहीं सकता क्योंकि-भावी देहका अनारम्भ भावी देहका प्रागभावरूप होनेसे अनादि सिद्ध है इसलिये उसका ज्ञानसे उत्पन्न होना नहीं माना जा सकता ऐसे ही भावी देहके अनारम्भका पालन ज्ञानका फल है, यह दूसरा पक्ष भी संभव नहीं है, क्योंकि—भावी देहके आरम्भके प्रागभावका पालन अर्थात् सदाकाल भावी देहका अभाव ही रहे, यह बात तो सञ्चितकर्मरूप सामग्रीके दूर होनेसे ही होती है। अनारब्ध (सञ्चित) कर्म रूप सामग्रीकी निवृत्ति भी ज्ञानका फल नहीं है, केवल अविद्याकी निवृत्ति ही विद्याका फल है।

इसका समाधान यह है कि—तुमने जो दोष बताया वह नहीं आसकता, क्योंकि—आगेको जन्म न हो यह विद्याका ही फल है यह बात प्रमाणसिद्ध है। 'यस्माद् भूयो न जायते' जिस तत्त्वज्ञानके होजानेपर फिर जन्म नहीं पाता है। इत्यादि श्रुतियें इस विषयमें प्रमाणरूप हैं। सदा अज्ञानके साथ रहनेवाले अर्थात् अज्ञानके होने पर ही होनेवाले पूर्वोक्त "अब्रह्मत्व, मैं ब्रह्म नहीं हूँ" ऐसे निश्चय आदि बन्धनको पञ्चपादिकाचार्यने अज्ञान ही माना है। पुनर्जन्म अब्रह्मत्व आदि बन्धनकी निवृत्ति यदि ज्ञानका फल न हो तो अनुभवमें विरोध आजाय, जैसे ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है ऐसे ही पूर्वोक्त अब्रह्मत्व आदि बन्धनकी भी निवृत्ति होजाती है, यह बात अनुभव से सिद्ध है इसलिये भावी देहकी अप्राप्तिरूप जीवन्मुक्ति ज्ञानके साथ ही साथ होजाती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भगवान् याज्ञवल्क्य भी कहते हैं, कि-"अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" हे जनक ! तुझे अभय प्राप्त होगया है। "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" अरे ! यही सच्चा अमृतत्व है। दूसरी श्रुति भी कहती है "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" इसप्रकार आत्माको ज्ञान जिसको होगया है ऐसा पुरुष वर्त्तमान शरीरमें ही मरणरहित होजाता है।

यदि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होजाने पर भी उसका फलरूप विदेहमुक्ति उस समय न हो और आगेको किसी समय होय तो ज्योतिष्टोम यज्ञ

आदि कर्म समाप्त होजाने पर तत्काल स्वर्गादि फल प्राप्त न होनेसे जैसे 'अपूर्व' नामके एक संस्कारकी कल्पना करली जाती है, ऐसे ही ज्ञानके भी अपूर्वकी कल्पना करनी पड़ती है। और यदि ऐसा होगा तो कर्मशास्त्रमें ही ज्ञानशास्त्रका अन्तर्भाव होजायगा। इस पर यदि यह कहाजाय कि-मणि मंत्र आदिसे जिसकी शक्ति रुकगयी है ऐसा अग्नि उस रुकावटके दूर होजाने पर जैसे अपना दाहकर्म करसकता है, ऐसे ही प्रारब्धसे रुकावट पायाहुआ ज्ञान प्रारब्धके अन्तमें विदेहमुक्तिरूप फलको देदेगा। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्यों कि हमारी मानी हुई भावी देहका अभावरूप विदेहमुक्तिका, केवल वर्त्तमान शरीरको ही स्थापित करनेवाले प्रारब्धकर्मके साथ कुछ विरोध नहीं है, जिससे कि-प्रारब्धकर्म, विदेहमुक्तिरूप ज्ञानके फल का प्रतिबन्धक नहीं होसकता। और ज्ञान क्षणिक है, इसलिये जब आगेको वह स्वयं ही नहीं रहेगा तो फिर विदेहमुक्ति कैसे देसकेगा? यदि यह कहो, कि-मरणसमयमें चरम (अन्तिम) साक्षात्काररूप अन्य ज्ञान उत्पन्न होजायगा और वह विदेहमुक्ति देदेगा, तो यह बात भी नहीं होसकती,क्योंकि उस समय फिर अन्य ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला कोई साधन नहीं होता है। प्रतिबन्धकरूप प्रारब्धकर्म की निवृत्तिके साथ गुरु, शास्त्र, देह और इन्द्रिय आदि सकल जगत्की प्रतीति निवृत्त होजाती है, इसलिये उस समय ज्ञान कौनसे साधनसे होगा? अर्थात् हो ही नहीं सकता।

(शङ्का) होती है, कि-तो "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" प्रारब्ध का क्षय होजाने पर सम्पूर्ण मायाकी निवृत्ति होजाती है, इस श्रुति का क्या तात्पर्य समझा जाय?

(समाधान)-इस श्रुतिका अर्थ इतना ही है, कि-प्रारब्धके अन्तमें देह आदिको स्थिर रखनेवाला कोई निमित्त न होनेसे तो देह इन्द्रिय आदि सबकी निवृत्ति होजाती है, इसलिये अन्य मतके अनुसार देहका अभाव रूप विदेहमुक्ति शरीरपातके अनन्तर होय,परन्तु भावी देहका अभावरूप हमारी मानी हुई विदेहमुक्ति तो ज्ञानके साथ ही साथ प्राप्त होजाती है। इस ही अभिप्रायसे भगवान् शेषजी भी कहते हैं, कि-

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि त्यजन् देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥

मरणके समय जिसको स्वरूपका विस्मरण होगया है ऐसा पुरुष चाहे तीर्थ पर और चाहे चाण्डालके घर मरे तथापि ज्ञानकालमें ही मुक्तहुआ वह शोकशून्य पुरुष मुक्तिको ही पाता है।

विदेह मुक्तिमें साक्षात् साधन तत्त्वज्ञानकी ही प्रधानता है, यह बात सिद्ध होगयी। वासनाक्षय और मनोनाश तत्त्वज्ञानके द्वारा विदेहमुक्तिमें गौण है। आसुरी वासनाओंका नाश करनेवाली दैवी वासना ज्ञानका साधन है, यह श्रुति स्मृतियोंमें स्पष्ट रूपसे कहा है।

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान आदि दैवी सम्पत्तियोंसे युक्त होकर अपने आत्मासे अभिन्न परमात्माका अनुभव करे यह श्रुतिका प्रमाण है और स्मृतिमें भी कहा है, कि—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥
(गीता अ० १३ श्लोक ७-११)

अभिमान न करना, पाखण्ड न करना, किसीका चित्त दुखाना आदि हिंसाका काम न करना, क्षमा सरलता गुरुकी सेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनको वशमें रखना, इन्द्रियोंको शब्दादि विषयोंमें को न जानेदेना, अहङ्कार न करना, जन्म मरण बुढ़ापा और रोग आदिमें वार २ दुःखको देखना और उनको दोषरूप समझना, पुत्र स्त्री घर आदिमें अहंबुद्धि न रखना-ये सब मैं ही हूँ ऐसा न समझना तथा उनमें आसक्ति न करना, चाही और अनचाही वस्तुके मिलनेमें सदा चित्तको हर्ष-शोक-रहित रखना, अनन्यभक्तियोगसे मुझमें

अटलभाव रखना, एकान्त स्थानमें रहना, विषयी पुरुषोंकी बैठकमें रुचि न रखना, अध्यात्मज्ञानमें परमश्रद्धा और तत्त्वज्ञानके प्रयोजनरूपमोक्षका दर्शन ये सब ज्ञान कहिये ज्ञानके साधन हैं और इससे भिन्न जो कुछ भी है वह सब अज्ञान अर्थात् अज्ञानका साधन है।

मनोनाश भी ज्ञानका साधन है, यह बात श्रुतिस्मृतिमें प्रसिद्ध है। इसमें श्रुतिका प्रमाण यह है, कि-"ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" ध्यान करनेवाला पुरुष उस निरवयव आत्माका साक्षात् दर्शन पाता है। "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" व्यापक आत्माके विषें समाधि लगा कर परमात्मदेवको जानता हुआ धीरपुरुष हर्ष और शोकको त्याग देता है। स्मृतिमें भी कहा है-

यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै विद्यात्मने नमः॥

निद्रा तथा प्राणोंको जीतनेवाले, सन्तोषी और इन्द्रियोंका संयम करनेवाले योगी पुरुष ज्योतिःस्वरूप आत्माको प्रत्यक्ष देखते हैं, उस ज्ञानस्वरूप आत्माको प्रणाम है।

इसप्रकार विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्तिको लेकर तत्त्वज्ञान, मनोनाश तथा वासनाक्षयकी यथायोग्य गौणता तथा प्रधानतकी व्यवस्था है

(शङ्का)—विविदिषासंन्यासीको, प्राप्त करेहुए तत्त्वज्ञान आदि तीन साधनोंकी विद्वत्संन्यासमें पहुँचजाने पर केवल अनुवृत्ति ही समझना चाहिये अर्थात् विविदिषासन्यासके समयकी इनकी साधना ही पर्याप्त होगी या इनका सम्पादन करनेके लिये फिर प्रयत्न करने की आवश्यकता है? यदि कहो कि-पहली अनुवृत्ति ही पर्याप्त है तो तत्त्वज्ञानकी समान वासनाक्षय और मनोनाश भी विना ही यत्न के सिद्ध होंगे, इसकारण उनको प्रधानता देकर विशेष आदर करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं रहती है और यदि कहो कि-यत्न करनेकी आवश्यकता है तो जैसे वासनाक्षय और मनोनाशके लिये यत्नकी आवश्यकता है ऐसे ही तत्त्वज्ञानके लिये भी यत्न करनेकी आवश्यकता है, अतः गौण मानकर उसमें उदासीनता रखना ठीक नहीं है।

(समाधान)-यह दोष नहीं है, क्योंकि-हम ऐसा मानते हैं, कि जीवन्मुक्त दशामें ज्ञानकी केवल अनुवृत्ति होती है और वासनाक्षय तथा मनोनाशके लिये प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

जिसने उपासना सिद्ध करली है ऐसा कृतोपासन और जिसने उपासना सिद्ध नहीं की है ऐसा अकृतोपासन ये दो प्रकारके विद्या के अधिकारी हैं। इनमें जो अपने उपास्यदेवके साक्षात्कार पर्यन्त उपासना करके ज्ञानसाधनामें लगता है उस अधिकारीके मनोनाश और वासनाक्षय अत्यन्त दृढ़ होनेके कारण ज्ञान होनेके अनन्तर विद्वत्संन्यास और जीवन्मुक्ति उसके लिये स्वतः सिद्ध होजाते हैं। शास्त्रमें तो ऐसे पुरुषको ही अध्यात्मविद्याका मुख्य अधिकारी माना है। अतः ऐसे अधिकारीके लिये ही शास्त्रमें तीनों साधनोंको एक साथ कहा है। इसप्रकार विद्वत्संन्यास और विविदिषासंन्यास स्वरूपमें भिन्न २ होने पर भी संकीर्णसे ही प्रतीत होते हैं। आजकलके अधिकारी तो प्रायः अकृतोपासन ही होते हैं, इसकारण वे केवल उत्कण्ठासे बड़ी ही शीघ्र ब्रह्मविद्यामें लगजाते हैं, उतने समय तक ही वासनाक्षय और मनोनाशका सम्पादन करते हैं, इतनेसे ही उनको श्रवण, मनन और निदिध्यासन सिद्ध होजाता है इनके दृढ़ अभ्याससे अज्ञान, संशय तथा विपर्ययके निवृत्त होनेके कारणसे तत्त्वज्ञान उत्तमतासे उदयको प्राप्त होजाता है। जब तत्त्वज्ञानका उदय होजाता है फिर उसको कोई नहीं रोकसकता, तथा निवृत्त हुई अविद्याको उपजानेवाला भी कोई कारण नहीं है, इसलिये उसका तत्त्वज्ञान शिथिल नहीं होता है, परन्तु वासनाक्षय और मनोनाशका दृढ़ अभ्यास न होनेसे तथा भोग देनेवाले प्रबल प्रारब्धके कारणसे उनको समय २ पर बाधा पड़ती है इसकारण वायुवाले स्थानमें धरेहुए दीपककी समान तत्काल मनोनाश और वासनाक्षय निवृत्त होने लगते हैं, वशिष्ठजी भी कहते हैं—

पूर्वेभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि संमतः ।
दुःसाध्यो वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि ॥

ऊपर कहेहुए प्रयत्नोंकी अपेक्षा यह वासना का त्यागरूप प्रयत्न सुमेरु पहाड़को उखाड़नेसे भी अधिक विषम और महाकष्टसे साध्य है, ऐसा माना है। अर्जुन भी कहता है, कि-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण! मन चञ्चल है, शरीर इन्द्रिय आदिको विह्वल करने

वाला है, बलवान् और दृढ़ है, इसलिये मनका रोकना मैं वायुको रोकनेकी समान कठिन मानता हूँ।

इसप्रकार आजकलके विद्वत्संन्यासियोंको केवल ज्ञानकी अनुवृत्ति है और वासनाक्षय तथा मनोनाश प्रयत्नसे साध्य हैं।

जिसके क्षयके लिये यत्न करना आवश्यक है, वह वासना क्या वस्तु है? इसके विषयमें वसिष्ठजी कहते हैं कि—

दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम्।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता॥
भावितं तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः।
भवत्याशु महाबाहो विगतेतरसंस्मृतिः॥
तादृग्रूपो हि पुरुषो वासनाविवशीकृतः।
संपश्यति यदेवैतत्सद्वस्त्विति विमुह्यति॥
वासनावेगवैवश्यात्स्वरूपं प्रजहाति तत्।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मदवशादिव॥

पूर्वापरका विचार न करके दृढ़ भावनासे पदार्थको ग्रहण कर-लेना वासना कहलाता है, हे महाबाहो! तीव्र संवेगसे जो स्वयं भावना करे, जैसे कि—मैं शरीर रूप हूँ, तो वह पुरुष तत्काल उस ही रूपवाला होजाता है और उसकी दूसरी स्मृति जाती रहती है। वासनाके वशमें हुआ पुरुष स्वयं वासनाके अनुसार जो निश्चय कर लेता है उस ही रूपका होजाता है और मैंने जो निश्चय करलिया है वही ठीक है, ऐसा माननेके मोहमें पड़जाता है। वासनाके वेगमें डूबजानेके कारण अपने स्वरूपको भूलजाता है। जैसे मतवाला मनुष्य यथार्थ नहीं देखता है, ऐसे ही वासनासे दूषित हुई दृष्टिवाला सबको भ्रान्तिभरा ही देखता है, वास्तविक स्वरूपको देख ही नहीं सकता।

अपना २ देश, आचरण, कुल, धर्म, भाषा और भाषामेंके अपशब्द साधुशब्दों पर जिन प्राणियोंका आग्रह देखनेमें आता है उनको वासनाका साधारण उदाहरण समझो। उनके विशेष उदाहरण वासनाके भेदोंको कह कर दिखावेंगे। ऐसी वासनाको लेकर बृह-दारण्यक उपनिषद्में कहा है—

स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।

यह जैसी वासनावाला होता है तैसा ही सङ्कल्प करता है, जैसा सङ्कल्प करता है तैसी ही क्रिया करता है और जैसी क्रिया करता है तैसा फल पाता है। वासनाके भेद वाल्मीकजीने योगवाशिष्ठमें भी कहे हैं।

> वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा।
> मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी॥
> अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी।
> पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः॥
> पुनर्जन्मांकुरं त्यक्त्वा स्थिता संभ्रष्टबीजवत्।
> देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते॥

वासना दो प्रकारकी है-एक शुद्ध और दूसरी मलिन, मलिन वासना जन्मका कारण है और शुद्ध वासना जन्मका नाश करने वाली है। अज्ञानसे अत्यन्त घन आकारवाली और घने अहङ्कारवाली मलिन वासनाको विद्वान् पुरुषोंने पुनर्जन्म देनेवाली कहा है। भुने हुए बीजकी समान पुनर्जन्मरूप अंकुरको त्यागकर स्थित तथा जिससे जाननेयोग्य वस्तुको जानलिया है यह शुद्ध वासना देहके निर्वाहके लिये धारण कीजाती है, ऐसा विवेकी पुरुषोंने कहा है।

अन्नमय आदि पांच कोश तथा उनके साक्षी आत्माके भेदको ढकनेवाला अज्ञान है. उस अज्ञानके कारण उसका आकार अति घनीभूत होरहा है, इसलिये मलिन वासनाको 'अज्ञानसुघनाकारा' कहा है। जैसे छाछके मेलसे दूध गाढ़ा पड़जाता है, जैसे अति-शीतल स्थानमें रखने पर घी जमकर गाढ़ा पड़जाता है, यही बात वासनाके विषयमें है अर्थात् भ्रान्तिकी परम्परासे वासना भी घनी होती चली जाती है। इस भ्रान्तिकी परम्परारूप वासनाके घनभाव का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें आसुरी सम्पत्ति को दिखातेहुए किया है-

> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
> न शौचं नाऽपि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
> असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
> अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम्।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥
चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥

आसुरी स्वभावके पुरुष धर्ममें प्रवृत्त होना और अधर्मसे बचना जानते ही नहीं । उनमें पवित्रता, सत्य और सदाचरण होता ही नहीं वे जगत्को असत्य, प्रतिष्ठाशून्य बिना ईश्वरका, परस्परके संयोगसे उत्पन्न हुआ और कामहेतुक कहते हैं और कहते हैं कि-इसका और कोई हेतु है ही नहीं । ऐसी दृष्टिका आश्रय लेकर जिनकी बुद्धि नष्ट होगयी है ऐसे अल्पबुद्धिवाले क्रूर कर्म करनेवाले जगत्के शत्रु नाश के लिये उत्पन्न होते हैं । किसी प्रकार भी पूरी न हो ऐसी कामनाका आश्रय लेकर दंभ, मान और मदसे युक्त हुए वे अपवित्र व्रतवाले मोहवश अशुभ निश्चयोंको स्वीकार करके निषिद्ध कामोंको करनेमें लगजाते हैं । मरणके समय ही जिनकी समाप्ति हो ऐसे असंख्यों विचार करनेवाले, विषयभोगको ही परमपुरुषार्थ माननेवाले, इस विषयसुखको छोड़कर और कोई सुख है ही नहीं ऐसा निश्चय रखने वाले, सैकड़ों आशारूपी फांसियोंसे बँधेहुए, काम और क्रोधके वशीभूत वे आसुरी जीव विषयभोगके लिये अन्यायसे धन इकट्ठा करना चाहते हैं । अहङ्कारका उदाहरण भी यहां ही दिया है-

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथं ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

अनेकचित्ता विभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

यह धन आज पाया है, मेरा यह मनोरथ शीघ्र ही सिद्ध होने वाला है, यह है और यह भी फिर मेरा धन होजायगा। इस शत्रुको मैंने मारडाला, अब दूसरे शत्रुओंको भी मारडालूँगा। मैं सबको वशमें करनेवाला ईश्वर हूं, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध, बलवान् तथा सुखी हूँ। धनवान् और कुलीन भी मैं ही हूँ, मेरी समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, और उससे आनन्द भोगूँगा। इसप्रकार अज्ञानवश मोहमें पड़ेहुए, अनेकों प्रकारके दूषित चित्तमेंसे उठेहुए खोटे सङ्कल्पोंके कारण अनेकों भांतिकी भ्रान्तिके वशमें हुए, मोह-जालमें अत्यन्त लिपटे हुए तथा विषयभोगमें परम आसक्त हुए वे पुरुष वैतरणी आदि अपवित्र नरकमें पड़ते हैं।

इससे यह दिखाया कि-अहङ्कार पुनर्जन्मका कारण है, अब इस बातको ही विस्तारके साथ कहते हैं, कि—

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

अपनेको ही बड़ा माननेवाले नम्रताहीन, धन, मान और मदसे युक्त वे दंभके साथ नाममात्रके यज्ञोंसे विधिहीन यज्ञ करते हैं। अहंकार, बल, गर्व, काम तथा क्रोधका आश्रय लेनेवाले अपने और दूसरों के शरीरोंमें स्थित मेरा (परमात्मा का) द्वेष करनेवाले जो ईर्षावान् पुरुष हैं उन द्वेषी, क्रूर, अधम पुरुषोंको मैं सदा संसारकी आसुरी योनियोंमें डालता हूँ। आसुरी योनियोंमें पड़ेहुए तथा हर एक जन्ममें अधिक २ मूढ़ताको प्राप्तहुए वे जीव हे कौन्तेय ! मुझे प्राप्तहुए बिना ही अधम गतिको प्राप्त होजाते हैं।

जाननेयोग्य आत्मवस्तुका ज्ञान करानेवाली शुद्ध वासना है, जान

ज्ञेयं (ज्ञेय) वस्तुका स्वरूप भगवान्‌ने गीताके १३ वें अध्यायमें कहा है-

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

जो ज्ञेय वस्तु है उसको स्पष्ट रूपसे कहूँगा, जिसको जानलेने पर जीव मोक्ष पाजाता है. वह ज्ञेय वस्तु उत्पत्तिरहित परब्रह्म है। उसको न सत् ही कहा जा सकता है,न असत् ही कहा जासकता है। वह सब शरीरोंमें हाथ पैरोंवाला है, सब शरीरोंमें नेत्र, मस्तक तथा मुख वाला है, वह सब शरीरोंमें कानोंवाला है, तथा लोकोंमें सकल जड़ पदार्थोंमें व्याप्त होकर स्थित है। वह सब इंद्रियोंके शब्द आदि विषयोंको प्रकाशित करनेवाला और सब इन्द्रियोंसे रहित है। वह असङ्ग और सबको धारण करनेवाला है, वह निर्गुण तथा गुणोंका भोक्ता है, वह भूतोंके भीतर और बाहर व्यापक है, वह स्थावर और जङ्गमरूप है, वह सूक्ष्मताके कारण जाननेमें नहीं आसकता, वह दूर स्थित है और समीपमें भी वही है, वह प्राणियोंमें एकरूप होकर भी भिन्न २ सा भासता है, उसको प्राणियोंको धारण करनेवाला संहार करनेवाला तथा उत्पन्न करनेवाला जानो, वह सूर्य आदि प्रकाश देनेवालोंको भी प्रकाश देनेवाला है तथा तमसे परे कहलाता है।

ऊपरके श्लोकमें ज्ञेय वस्तुको तटस्थ तथा स्वरूप लक्षणसे जानने के लिये सोपाधिक और निरुपाधिक दो प्रकारके ज्ञेय स्वरूपको कहा है।

(जिस लक्ष्यके साथ किसी समय सम्बन्धवाला होकर लक्ष्य वस्तुका बोधन करे वह तटस्थ लक्षण कहलाता है, जैसे देवदत्त

का घर कौएवाला है, इस वाक्यमें कौआ देवदत्तके घर पर किसी एक समय बैठ कर अन्य घरोंसे अलग करता हुआ उस देवदत्तके घर रूप लक्ष्यका बोध कराता है, इसलिये वह तटस्थ लक्षण कहलाता है। और जो सदा लक्ष्यके साथ ही रहकर लक्ष्यको औरोंसे जुदा करता हुआ बोध करावे वह स्वरूपलक्षण कहलाता है जैसे किसी बालकने बूझा कि--यह आकाशमें स्थित ज्योतिर्गणोंमेंका चन्द्रमा कौन है ? उसके उत्तरमें बड़े मनुष्यने कहा, कि—जिसका सबसे अधिक प्रकाश है वही चन्द्रमा है,यह वाक्य चन्द्रमाको तारागणोंसे जुदा करके बोध कराता है तथा महान् प्रकाश सदा चन्द्रमाके साथ ही रहता है, इसलिये वह स्वरूप लक्षण है)

(शङ्का)-पूर्वापरके विचार रहित स्फुरणका हेतु जो संस्कार उसको शुभ वासना कहते हो और ज्ञान तथा ज्ञेय विचारजन्य हैं इसलिये उनमें शुभ वासनाका लक्षण नहीं घटसकता।

(समाधान) वासनाके लक्षणमें "दृढभावनया,, अर्थात् दृढ़ अभ्याससे ऐसा पद दिया है, इसलिये जैसे अनेकों जन्मोंमें दृढ़ अभ्यास किया होनके कारण इस जन्ममें दूसरेके उपदेशके विनाही अहङ्कार, ममता काम, क्रोध आदि मलिन वासनायें उत्पन्न होजाती हैं। ऐसे ही पहले ज्ञान विचारसे उत्पन्न होजाने पर भी उनका चिरकाल निरन्तर आदरके साथ सेवन करनेपर परमतत्त्वकी भावना दृढ़ होजानेसे महावाक्य और युक्तियोंका स्मरण किये विनाही सामने धरेहुए घड़े की समान आत्मतत्त्व फुरने लगता है। ऐसे बोधकी अनुवृत्तिसहित जो इन्द्रियव्यवहार है वह शुद्ध वासनारूप है। वह शरीरके जीवन के लिये ही उपयोगी है, वह दम्भ दर्प आदि आसुरी सम्पत्तिको उत्पन्न नहीं करता है, ऐसे ही जन्म जन्मातरके कारणरूप धर्म अधर्मको भी उत्पन्न नहीं करता है। जैसे भूनेहुए धान आदि बीज केवल कोठेमें भरनेके ही काममें आते हैं, उनसे रांधकर भोजन नहीं बनता है और न उनको बोने पर दूसरा अन्नही उत्पन्न होता है। ऐसे ही शुभवासना भी भुनेहुए बीजकी समान ही है अर्थात् उससे शरीरनिर्वाहके सिवाय आसुरीसम्पत्तिकी उत्पत्ति नहीं होसकती और न वह पुनर्जन्मका ही कारण होसकती है।

लोकवासना, शास्त्रवासना तथा देहवासनाये तीन प्रकारकी मलिन वासना हैं। मैं ऐसा आचरण करूँगा कि-जिसमें सब लोग मेरी प्रशंसा करें, निन्दा न करें, ऐसे अभिनिवेशका नाम लोकवासना है,

ऐसा होना अशक्य है, इसलिये यह मलिन वासना है क्योंकि श्रीवाल्मीकिजीने नारदजीसे पूछा कि-इस विश्वमें अत्यन्त गुणवान् तथा कीर्त्तिमान् कौन है ? इसके उत्तरमें नारदजीने कहा कि-ऐसे तो इक्ष्वाकुवंशी राम ही हैं, ऐसे श्रीरामचन्द्रजीकी स्त्री पतिव्रताओंकी मुकुटरूप जगन्माता श्रीसीता देवीके ऊपर भी जिसको कोई सुन भी न सके ऐसा कलङ्क लगा, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है तथा देशभेद से भी लोगोंमें प्रायः परस्परका निन्दावाद सुननेमें आता है-दक्षिणके ब्राह्मण उत्तरके वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको मांसभक्षी कहकर निन्दा करते हैं। उत्तरके ब्राह्मण दक्षिणी ब्राह्मणोंके विषयमें कहते हैं कि, ये मामा की कन्याके साथ विवाह करलेते हैं तथा मुसाफिरीमें अपने साथ मृत्तिकाके पात्र रखते हैं। ऋग्वेदी ब्राह्मण आश्वलायन शाखाको काण्वशाखासे श्रेष्ठ मानते हैं तो वाजसनेयी शाखाको पढ़नेवाले यजुर्वेदी ब्राह्मण इससे उलटा ही मानते हैं, अर्थात् आश्वलायन शाखासे काण्वशाखाको श्रेष्ठ मानते हैं, इसप्रकार अपने २ कुल, गोत्र, बान्धव और इष्टदेवकी प्रशंसा तथा दूसरोंके कुल गोत्र आदिकी निन्दा विद्वान्से लेकर अत्यन्त गँवार ग्वालियों तकमें सर्वत्र लोकप्रसिद्ध है। ऐसे ही अभिप्रायसे कहा है कि-

शुचिः पिशाचो विचलो विचक्षणः क्षमोऽप्यशक्तो
बलवांश्च दुष्टः। निश्चिन्तचोरः सुभगोऽपि कामी
को लोकमाराधयितुं समर्थः॥

पवित्र तथा पिशाचकी समान, चपल तथा चतुर, क्षमावान् तथा अशक्त, बलवान् तथा दुष्ट, चलचित्त, चोर, सुन्दर तथा कामी इनमेंका कौनसा मनुष्य लोगोंको प्रसन्न करसकता है ? कोई नहीं कर सकता। क्योंकि-दुर्जन पुरुष समझते हैं कि जो पवित्र है वह पिशाच है, जो विद्वान् है वह भ्रांत कहिये वहमी है, जो सहनशील है वह अशक्त है, जो बलवान् है वह दुष्ट है, जो अचित्त है वह चोर है, और जो रूपवान् है वह कामी है, इसलिये लोगोंको कौन प्रसन्न कर सकता है ?

विद्यते न खलु कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः।
सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः

जिससे सब लोग प्रसन्न हो होजायँ, कोई भी अप्रसन्न न हो, ऐसा तो कोई उपाय है ही नहीं, इसलिये सब प्रकारसे जिसमें अपना हित हो वही काम करै, बहुत बोलनेवाला मनुष्य क्या कर सकता

है ? अर्थात् लोगोंके कहने पर ध्यान न देकर अपना वास्तविक हित करनेवाला काम करे।

इसप्रकार लोकवासनाको मलिन मानकर मोक्षशास्त्रमें योगीश्वर को निन्दा और स्तुतिमें समान कहा है।

शास्त्रवासना भी तीन प्रकारकी है-पाठव्यसन, शास्त्रव्यसन तथा अनुष्ठानव्यसन। इनमेंसे पाठव्यसन भारद्वाज मुनिमें था, यह अपना तीन सौ वर्षका आयु पूरा होने पर्यन्त वेदका बहुत ही अध्ययन करते रहे, और इन्द्रके और सौ वर्षकी आयु देनेका लोभ देने पर उस आयु में भी शेष रहे वेदाध्ययनका उद्योग ही किया तब इन्द्रने उनको समझाया और आगेको पढ़नेसे रोककर उनको अधिक पुरुषार्थ करनेके लिये सगुण ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। यह सब बात तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखी है। बहुतसे शास्त्रोंके पढ़नेका व्यसन भी मोक्षरूप अत्यन्त पुरुषार्थका हेतु न होनेसे उसकी मलिनताका वर्णन कावषेय गीतामें किया है। एक दुर्वासा नामक मुनि अनेकों पुस्तकोंका बोझा साथमें लेकर श्रीमहादेवजीको प्रणाम करनेके लिये आये तब महादेवजीकी सभामें बैठेहुए नारदजीने भरी सभामें दुर्वासा मुनिको बोझा ढोने वाले गधेकी समान बताया, तब तो दुर्वासा मुनिने क्रोधमें भरकर सब पुस्तकें खार समुद्रमें फेंकदी, और फिर महादेवजीकी सभामें आये तब महादेवजीने उनको आत्मविद्याका अभ्यास करनेकी संमति दी। जिसकी इंद्रियोंकी वृत्तियें विषयोंकी ओरसे हटकर अन्तर्मुख नहीं होजाती हैं तथा जिसको सद्गुरुकी कृपा प्राप्त नहीं होती है उसको केवल वेदशास्त्रके अभ्याससे आत्मविद्या कभी भी प्राप्त नहीं होती है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यह आत्मा न प्रवचन (पढ़हुएकी बार २ आवृत्ति करने) से, न ग्रन्थके अर्थको धारण करनेकी शक्तिसे और न बहुतसे पुस्तकोंको पढ़नेसे ही प्राप्त होता है। अन्यत्र भी कहा है—

बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम्॥

अनेकों शास्त्रोंकी कथारूप कन्थाको बार २ वृथा चावनेसे क्या लाभ है ? तत्त्वके अभिलाषियोंको तो उद्योग करके भीतरी ज्योतिकी खोज करनी चाहिये।

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥

चारों वेद और अनेकों शास्त्रोंको पढ़कर भी जैसे अनेकों पाकोंमें पड़नेवाली करछी उन भोजनोंके स्वादको नहीं जानती ऐसे ही अन्त-र्मुख वृत्तिरहित और गुरुकी कृपासे शून्य पुरुष ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानता है।

नारदजी चौसठ विद्याओंमें प्रवीण होने पर भी ब्रह्मवेत्ता न होनेसे मनमें सन्तप्त होतेहुए सनत्कुमार मुनिकी शरणमें गये थे, ऐसा छान्दो-ग्य उपनिषद्में लिखा है। विष्णुपुराणमें लिखा है कि-निदाघको अनुष्ठानका व्यसन था। दाशुरके पुत्र निदाघको ऋभुने बार २ सम-झाया तो भी उसने चिरकाल तक कर्मकी जड़ श्रद्धाको कम न किया। दाशुरको श्रद्धाकी अत्यन्त जड़ताके कारण यज्ञ करनेके योग्य भूमि कहीं नहीं मिली, यह बात योगवाशिष्ठमें लिखी है। यह कर्मवासना पुनर्जन्मका हेतु होनेसे मलिन है। अथर्ववेदके मुण्डक उपनिषद्में भी लिखा है-

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनंदन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥
अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराःपण्डितं मन्यमानाः
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
अविद्यायांबहुधावर्त्तमानावयंकृतार्थाइत्यभिमन्यंतिबालाः
यत्कर्मिणो न प्रवेदयंति रागात्तेनातुराःक्षीणलोकाश्च्यवन्ते
इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः॥
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेनानुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

जिसमें अठारह प्रकारका (१६ ऋत्विज, यजमान और यजमान की पत्नीके करनेका) अधम कर्म कहा है ऐसी यह यज्ञरूप नौका मजबूत नहीं है अर्थात् इससे कोई संसारके पार नहीं होसकता इसको जो मूढ़ पुरुष श्रेष्ठ बताते हैं वे बार २ जरा मरणको पाते हैं। अविद्याके भीतर रहनेवाले और अपनेको धीर तथा पण्डित माननेवाले अधम, अन्धोंके दौड़ाये हुए अन्धोंकी समान वे मूढ़ कर्मी पुरुष बार बार जन्म मरण को पाते हैं अनेकों प्रकारसे अविद्यामें रहनेवाले ये बालक (अज्ञानी पुरुष) अपनेको

कृतकृत्य मानते हैं। कर्म करनेवाले पुरुष आसक्तिके कारण तत्त्वको जानते नहीं हैं इस कारण वे आतुर पुरुष कर्मफलका क्षय होजाने पर पीछेको जा पड़ते हैं। अतिमूढ़ कर्मी पुरुष इष्टापूर्तको ही श्रेष्ठ मानते हैं, इस कारण कर्मके सिवाय और उपायको श्रेष्ठ जानते ही नहीं, अतः वे स्वर्गमें सुकृतवश पुण्यकर्मोंके तुच्छ सुखको भोगकर इस मनुष्यलोकमें या इससे भी नीचेके लोकमें प्रवेश करते हैं।

भगवान्‌ने श्री गीताके दूसरे अध्यायमें ४२ से ४६ वें श्लोक तक कहा है, कि-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

हे अर्जुन! वेदके रहस्यको न समझनेवाले अविचारी पुरुष जिन अर्थवादरूप वातोंको कहते हैं वे वातें जबतक विचार नहीं कियाजाता तब तक ही अच्छी लगती हैं, उन वातोंमें प्रेम करनेवाले पुरुष कर्मों के स्वर्गादि फलके सिवाय ज्ञान आदि और कोई फल है ही नहीं ऐसा कहा करते हैं। जिनके चित्तोंमें कामनायें भर रही हैं, और जो स्वर्गको ही परमफल मानते हैं ऐसे वे पुरुष जन्म और कर्मरूप फल को देनेवाली, भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये अग्निहोत्र आदि कर्मोंका विस्तारके साथ वर्णन करनेवाली वाणीकी ही प्रशंसा करते हैं। भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त तथा उस वाणीने जिनके चित्तोंको खेंच लिया है ऐसे उन पुरुषोंके अन्तःकरणोंमें आत्मतत्त्व का निश्चय करनेवाली बुद्धि होती ही नहीं। हे अर्जुन! कर्मकाण्डरूप

वेद तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारका ही वर्णन करनेवाले हैं, इस कारण तू तीनों गुण, उनके कार्य रागद्वेष आदि और रागद्वेषसे कर्मोंसे अलग रह। सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित, अचल, धैर्यवान् योग क्षेमकी चिन्तासे रहित तथा आत्मनिष्ठ हो। जैसे छोटेसे जलाशयसे जितना स्नानपान आदिका प्रयोजन सिद्ध होता है वही सब प्रयोजन चारों ओरसे लबालब भरेहुए बड़ेभारी जलाशयसे सिद्ध होता है, ऐसे ही सब वेदमें कहेहुए काम्य कर्मोंसे जो आनन्द प्राप्त होता है वही सब आनन्द ब्रह्मज्ञानी पुरुषको प्राप्त होजाता है।

शास्त्रवासना गर्वका कारण होनेसे मलिन है। श्वेतकेतुने थोड़े ही समयमें सब वेदोंका अभ्यास करके गर्ववश अपने पिताके समीप भी अविनयका काम किया, ऐसा छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है तथा बालाकीने कितनी ही उपासनाओंको जाननेके घमण्डमें भरकर उशीनर आदि अनेकों देशोंमें दिग्विजयके लिये अनेकों ब्राह्मणोंका अपमान करके अन्तमें काशीपुरीमें जा ब्रह्मज्ञानियोंके शिरोमणि राजा अजातशत्रुको भी उपदेश देनेके लिये अपनी उद्धतता दिखायी। यह बात बृहदारण्यक और कौषीतकि उपनिषद्में लिखी है।

देहवासना भी देहात्मत्व, गुणाधान और दोषापनयन भ्रान्ति भेदसे तीन प्रकारकी है—

देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः।

चैतन्यवान् देहमात्र ही आत्मा है ऐसा पामर पुरुष और चार्वाक मतवाले कहते हैं। इसप्रकार देहमें आत्मपनेका उदाहरण शङ्कराचार्यने शारीरक भाष्यमें दिया है। "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" यह पुरुष अन्नके रसका विकाररूप है, यहांसे लेकर "तस्मादन्नं तदुच्यते" इसलिये वह अन्न कहलाता है। यहां तक तैत्तिरीय उपनिषद्में भी उन ही प्राकृत पुरुषोंका मत दिखाया है। विरोचनको प्रजापतिने उपदेश दिया तो भी उसने अपने अन्तःकरणके दोषवश देहात्मबुद्धिको दृढ करके उसका ही असुरोंको उपदेश दिया। यह बात छान्दोग्य उपनिषद्के आठवें अध्यायमें कही है। गुणाधान कहिये अपनेमें जो गुण न हो उसको प्राप्त करना दो प्रकारका है—एक शास्त्रीय और दूसरा लौकिक। कण्ठमें सुन्दर स्वरको प्राप्त करना आदि लौकिक गुणाधान है। कोमल स्वरसे गान वा अध्ययन करनेके लिये तेल पीना काली मिरच खाना आदि उपायोंको बहुत

से लोग बड़े चावके साथ करतेहुए देखे जाते हैं। बहुतसे लोग शरीर को स्पर्शमें कोमल बनानेके लिये पुष्टिकारक औषध आहार आदिका सेवन करते हैं। सुन्दर रूपके लिये तेल उबटना मलते हैं तथा सुन्दर कपड़े और गहने पहरते हैं। शरीरको सुगन्धित करनेके लिये चन्दन लगाते और पुष्पमाला पहरते हैं। इस सबकी लौकिक गुणा-धानमें गिनती है। शास्त्रमें लिखे गुणोंको पानेके लिये गङ्गास्नान करते हैं तथा शालग्रामका चरणामृत सेवन करते हैं।

दोषापनयन कहिये शरीरमें के दोषोंको दूर करना भी लौकिक और शास्त्रीय भेदसे दो प्रकारका है। वैद्यकी बतायी हुई औषधके सेवनसे तथा मुखप्रक्षालन आदिसे दोष दूर करनेको लौकिकदोषाप-नयन कहते हैं। शौच आचमन आदिके द्वारा शास्त्रीय दोषपनयन कहलाता है। यह देहवासनाकी मलिनता आगे दिखावेंगे। देहको ही आत्मा मानलेना, इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा ऐसा मानलेने पर यावन्मात्र दुःख आकर सताते हैं, इसलिये यह मलिन है। देहको आत्मा समझनेको पूर्वकालके सब ही आचार्योंने अनुचित कहा है। गानेवाले और पढ़नेवाले सुन्दर शब्दके लिये उद्योग करने पर भी प्रायः सफलमनोरथ नहीं होते। शरीरकी खालका कोमल होना या शरीरका पुष्ट होना, औषधके सेवनसे अवश्य ही होजाय यह कोई नियम नहीं है। लावण्य और सुगन्धितपना भी वस्त्र, आभूषण तथा पुष्पमाला आदिमें स्थित है, देहमें नहीं है, इसलिये ही विष्णुपुराण में कहा है, कि-

> मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
> देहे चेत् प्रीतिमान् मूढो भविता नरकेऽपि सः॥
> स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।
> विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥

मांस, रुधिर, पीव, मल, मूत्र, स्नायु, मज्जा तथा हड्डियोंके ढेर रूप शरीरमें जो मूढ पुरुष प्रेम करता है तो वह ऐसे ही पदार्थोंसे भरे नरकका भी प्रेमी होना चाहिये। अपने शरीरमें से निकलते हुए अपवित्र दुर्गन्धसे जिसको अपने शरीरमें घृणा उत्पन्न नहीं होती, उस पुरुषको वैराग्य उत्पन्न होनेके लिये और क्या उपदेश दिया जाय?

यद्यपि शौच आचमन आदि गुणोंका उपदेश शास्त्रमें दिया है, परन्तु उसमें अधिक आसक्त होनेका निषेध करनेवाला शास्त्र उस से भी अधिक प्रमाणकोटिका है। जैसे कि-"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"

किसी प्राणीकी हिंसा न करे। इस वाक्यका 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' अग्निसोम देवताके पशुका आलभन करे । यह वाक्य अपवाद है। इस प्रकार ही शास्त्रीय गुणाधानका अपवाद नीचे लिखे वचन हैं-

> यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रा-
> दिषु भौम इज्यधीः । यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न
> कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

वात, पित्त और कफ इन तीन धातुओंके बने इन शव (देहमात्र) में जिसकी आत्मबुद्धि है, जो स्त्री पुत्र आदिको आत्मसंबन्धी मानता है, जो केवल मट्टी पत्थरके टुकड़ेमात्रको ही पूजनीय मानता है और जलमात्रमें तीर्थबुद्धि रखता है, परन्तु ऐसी बुद्धि ज्ञानवान् पुरुषोंमें नहीं होती है इसकारण वह पुरुष पशुओंमें केवल बोझा ही उठानेवाले गधेकी समान है, तात्पर्य यह है कि-इस मांस रुधिरादिके लोथड़े शरीरको आत्मा मत मानो, ये स्त्री पुत्रादि कर्मभोगके आश्रय शरीरके संबन्धी हैं, निर्लेप आत्माके साथ इनका कुछ संबन्ध नहीं है, पाषाण मृत्तिका आदिकी प्रतिमाओंका पूजन नहीं होता है किन्तु इन प्रतिमाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मसत्ताकी उपासना कीजाती है, चाहे जहांका जल तीर्थ नहीं कहला सकता किन्तु जिन जलोंमें विशेष विभूतियोंका समावेश होचुका है वे जल ही तीर्थरूप हैं, जो ऐसा न मानकर इसके विपरीत मानता है वह तत्त्वको समझा हुआ नहीं है किन्तु पशुजातिमें बोझा ढोनेवाले गधेकी समान मूढ है ।

> अत्यंतमलिनो देहो देही चात्यंतनिर्मलः ।
> उभयोरंतरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥

देह अत्यन्त मलिन है अर्थात् किसी प्रकार शुद्ध नहीं होसकता और देहमें स्थित आत्मा अत्यन्त निर्मल है, उसको शुद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है, इन दोनोंके अन्तरको समझ कर दोनोंमेंसे किसको शुद्ध कियाजाय ? अर्थात् कोई भी शुद्ध करनेके योग्य नहीं है ।

यद्यपि ये वाक्य दोषको दूर करनेका निषेध करते हैं, गुणोंको संग्रह करनेका निषेध नहीं करते हैं,तथापि जबतक प्रबल दोष विद्यमान रहेंगे तबतक गुणोंका संग्रह करना नहीं बन सकता, इसलिये इन वाक्योंसे गुणाधानका भी निषेध ही समझो । देहकी अत्यन्त मलिनता मैत्रायणी शाखामें स्पष्ट कही है-

भगवन्नस्थिचर्मस्नायु-मज्जामांस-शुक्रशोणित-
श्लेष्माश्रुदूषिकादूषिते विण्मूत्रवातपित्तसंघाते
दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः ।

हे भगवन् ! जो हड्डी, चमड़ा, स्नायु, मज्जा, मांस, वीर्य रुधिर, कफ, आंसू, कीचड़ आदिसे दूषित है तथा विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त आदिका ढेर और दुर्गन्धसे भरा है ऐसे इस निःसार शरीरमें विषयोंको भोगनेसे कौनसा शुभ फल होगा ?

यह नरकसमान शरीर मैथुनसे उत्पन्न हुआ है चैतन्यरहित, मूत्रकी नालीमेंको बाहर आयाहुआ, हड्डियोंसे भरा, मांससे लिहसा, चमड़ेसे मँढ़ा और जैसे कोई कोठरी वस्तुओंसे भरी हो ऐसे ही यह विष्ठा, मूत्र, कफ, पित्त, मज्जा, मेद, वसा तथा अनेकों प्रकारके रोगरूप द्रव्योंसे भरा हुआ है । चिकित्सासे रोग दूर हो भी जाय वह स्थिर नहीं है और चिकित्सासे रोग दूर हो भी जाता है तो फिर उत्पन्न होजाता है । इस शरीरके नौ छेदोंमेंको निरन्तर मैल बहता रहता है, जब शरीरमें पसीना आता है उस समय असंख्यों रोमकूपोंमेंको मैल बहता है ऐसे शरीरको धोने आदि उपायोंसे कौन शुद्ध करसकता है ? कोई नहीं कर सकता । पूर्वाचार्योंने भी कहा है-

नवच्छिद्रकृता देहाः स्रवन्ति घटिका इव ।
वाह्यशौचैर्न शुद्ध्यन्ति नान्तःशौचं तु विद्यते॥

जैसे नौ छेदवाले घड़ेमेंसे भराहुआ जल बराबर बहता रहता है तैसे ही नौ छेदवाले शरीरोंमेंसे मल बहता रहता है, ये शरीर बाहरी शौचसे शुद्ध नहीं हो सकते तथा इनकी भीतरसे शुद्धि तो हो ही नहीं सकती । इसलिये देहवासना मलिन है । देहवासनाको मलिन मान कर वशिष्ठजी कहते हैं, कि—

आपादमस्तकमहं मातृपितृविनिर्मितः ।
इत्येको निश्चयो राम बन्धायासद्विलोकनात् ॥
सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ।
साऽसिपत्रवनश्रेणी या देहोऽहमिति स्थितिः ॥
सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ।
स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुल्कसी ॥

चरणसे मस्तक पर्यन्त मुझे माता पिताने ही बनाया है, माता

पितासे उपजे हुए इस शरीरके सिवाय मेरा और कोई स्वरूप नहीं है। हे राम ! ऐसा ही एक निश्चय करलेना भ्रान्त दृष्टि मात्र है, इस लिये बन्धन देनेवाला है। मैं देह हूँ, ऐसा निश्चय कर बैठना कालसूत्र नरकका मार्ग है, अवीचि नामक नरकके बन्धनमें डालने वाला बड़ा भारी जाल है। असिपत्रवन नामक नरककी पंक्ति है। सकल पदार्थों का नाश होता हो तो भी 'मैं देह हूँ' ऐसी भावनाको जहां तक हो सके उद्योग करके त्यागना ही चाहिये। जिसको आगेको अपने कल्याणकी इच्छा हो वह पुरुष कुत्तेका मांस लिये जातेहुए चाण्डाल की समान पूर्वोक्त अहङ्कारका स्पर्श भी न करे।

लोकवासना, देहवासना और शास्त्रवासना ये तीन वासनायें अ-विवेकियोंको अच्छे ही ग्रहण करने योग्य प्रतीत होती हैं तो भी ये जिज्ञासुको ज्ञान उत्पन्न होनेमें बाधा डालती हैं तथा ज्ञानीके ज्ञान की स्थितिमें भी बाधा डालती हैं इसलिये विवेकी पुरुषको तो इन का सर्वथा ही त्याग करना चाहिये, इसलिये ही योगवाशिष्ठमें भी कहा है—

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥

लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासनासे जीवको यथार्थ ज्ञान नहीं होता है।

दम्भ दर्प आदि आसुरी सम्पत्तिरूप मानसवासना नरककी कारण होनेसे अत्यन्त मलिन स्पष्ट ही है। इसलिये जैसे भी होसके किसी न किसी उपायसे लोक, शास्त्र, देह और मन इन चारोंकी वासनाका क्षय करे, जैसे वासनाका क्षय अवश्य करना चाहिये, ऐसे ही मनोनाश भी कर्त्तव्य है।

तर्कशास्त्रवाले मनको नित्य और अणुरूप मानते हैं, इसलिये यद्यपि उनके मतमें मनका नाश होना अशक्य है तथापि वैदिक पुरुष ऐसा नहीं मानते हैं, वे तो मनको, अवयवोंवाला, अनित्य तथा लाख सुवर्ण आदिकी समान अनेकों प्रकारके परिणामको पानेवाला द्रव्यरूप मानते हैं मनका लक्षण और प्रमाण वाजसनेयी शाखावाले इसप्रकार मानते हैं, कि—

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिर-
धृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।

काम, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय यह सब मन ही है । जैसे घट आदि पदार्थ नेत्रके प्रत्यक्षसे स्पष्ट दीखते हैं ऐसे ही क्रमसे उपजनेवाली काम आदि वृत्तियें साक्षिप्रत्यक्षसे स्पष्ट भासती हैं और इन वृत्तियोंका उपादान कारण मन है। यही मनका लक्षण है ।

अन्यत्रमना अभूवं नादर्शं अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्।

मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने देखा नहीं, मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने सुना नहीं । और—

मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति ।

यह पुरुष मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है, ऐसी श्रुतियें मनके होनेमें प्रमाण हैं । देखो चक्षु इन्द्रिय के समीप स्वच्छ प्रकाश में धराहुआ घड़ा और कानके समीप ऊँचे स्वरसे पढ़ाहुआ वेद जिस के अवधान (ध्यानदेने) से प्रतीत होता है और जिसके अनवधान (ध्यान न देने) से प्रतीत नहीं होता है, ऐसा सब विषयोंके ज्ञानका जो साधारण कारण अन्वय व्यतिरेककी रीतिसे प्रतीत होता है वही मन है ।

तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ।

इसलिये पीठमें होनेवाले स्पर्शको मनके द्वारा जानता है । यह मनका उदाहरण है ।

इसका विशेष विवेचन यह है, कि—लक्षण और प्रमाणसे मन सिद्ध होगया अतः उसका उदाहरण इसप्रकार समझना चाहिये । देवदत्तकी पीठको स्पर्श करादिया जाय तो वह समझता है, कि यह किसीने हाथसे छुआ है तथा यह अँगुलिसे छुआ है । पीठकी ओरको आंख नहीं पहुँच सकती और त्वचारूप इन्द्रिय केवल स्पर्शकी कठिनता और कोमलताको जानकर विरामको प्राप्त होजाती है, इसलिये हाथका स्पर्श अथवा अंगुलिका स्पर्श इस विशेष ज्ञानका कारण जो शेष रहा वह मननरूप क्रियाके कारण मन कहलाता है, तथा चिन्तवन क्रियाके करनेसे चित्त कहलाता है । वह मन सत्व-रज तथा तमोगुणमय है, क्योंकि—इन तीनों गुणोंके कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह मनमें देखनेमें आते हैं । प्रकाश आदि तीनों गुणोंके कार्य हैं, यह बात गीतामें गुणातीतके लक्षणमें कही है "प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव" तथा "प्रकाशप्रवृत्तिमोहा नियमार्थाः" प्रकाश प्रवृत्ति

और मोह नियमके लिये हैं । ऐसा ही सांख्यशास्त्रमें भी कहा है । यहां प्रकाश शब्दसे शुक्ल भास्वर रूप नहीं लिया जायगा, किन्तु ज्ञानस्वरूप प्रकाश समझना चाहिये । क्योंकि—

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे प्रमाद मोह एवं अज्ञान उत्पन्न होता है । ऐसा गीताके अ० १४ श्लोक १७में कहा है । ज्ञानकी समान सुख भी सत्त्वगुणका कार्य है, यह बात भी वहां ही ९ श्लोकमें कही है—

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें आसक्ति कराता है, रजोगुण कर्ममें आसक्ति कराता है और तमोगुण ज्ञानको ढककर अभिमानीको प्रमादमें डालदेता है ।

समुद्रकी तरङ्गोंकी समान सदा परिणामको प्राप्त होनेवाले गुणों मेंसे जिस समय जो गुण उभरता है उस समय वह दूसरे गुणोंको दबालेता है यह बात भी गीताके १४ वें अध्याय के १० वें श्लोकमें कही है तथा अन्यत्र भी कहा है—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥
बाध्यबाधकतां यान्ति कल्लोला इव सागरे ॥

हे भारत ! रजोगुण तथा तमोगुणको दबा कर सत्त्वगुण, बढ़ता है, तमोगुण तथा सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है और सत्त्व गुण एवं रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है । समुद्रमें तरंगोंकी समान ये गुण बाध्य बाधकपने को प्राप्त होते हैं ।

जब तमोगुण उभरता है तब आसुरी सम्पत्तियोंका उदय होता है, रजोगुणके बढ़ने पर लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना का उदय होता है और जब सत्त्वगुणका उभार होता है उस समय दैवी सम्पत्तियें बढ़ने लगती हैं । इस ही अभिप्रायसे गीतामें कहा है—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

इस देहमें जब सब इंद्रियोंमें प्रकाश उत्पन्न होजाता है तब समझो कि-सत्वगुण बढ़ रहा है।

यद्यपि अन्तःकरण त्रिगुणात्मक मानता है तथापि इस मनका मुख्य उपादान कारण तो सत्वगुण ही है। उपादान कारणकी सहायता करनेवाले अङ्ग उपष्टम्भक कहलाते हैं, इसलिये रज और तम सत्वगुणके उपष्टम्भक हैं, इसलिये ही ज्ञानी पुरुषके योगाभ्याससे रज और तम दूर होजाने पर शुद्ध सत्वस्वरूप ही शेष रहजाता है, इस अभिप्रायसे ही किसी महात्माने कहा है-

ज्ञस्य चित्तमचित्तं स्यादज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते ।

ज्ञानीका चित्त सङ्कल्पविकल्परहित होनेसे चित्त नामसे कहाजाने के योग्य नहीं है, उसका चित्त तो केवल शुद्ध सत्वस्वरूप है।

यह सत्वस्वरूप चित्त चञ्चलताका कारण जो रजोगुण उससे रहित होनेके कारण एकाग्र होता है तथा भ्रान्तिसे कल्पित अनात्मस्वरूप स्थूलपदार्थाकार होनेमें कारण जो तमोगुण उससे शून्य होनेके कारण सूक्ष्म होता है। ऐसे दो गुणोंसे युक्त होनेके कारण उसमें आत्मदर्शन करनेकी योग्यता आजाती है। श्रुति भी कहती है, कि-

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

सूक्ष्मदर्शी पुरुष एकाग्र तथा सूक्ष्म बुद्धिमें आत्माका दर्शन करते हैं।

जैसे पवनसे कांपतेहुए दीपकके प्रकाशमें रत्नपरीक्षक (जौहरी) रत्नोंको नहीं परख सकता तथा सूक्ष्म सुईसे ही जैसे सूक्ष्म वस्त्र सिया जाता है मोटी कुदालीसे नहीं सियाजासकता । ऐसा यह सत्वगुण योगियोंमें तामसरहित रजोगुणमिश्रित होनेके कारण नाना प्रकारके द्वैतविषयक सङ्कल्पोंके द्वारा अनात्म पदार्थोंका दर्शन कराता है इसकारण उसका नाम चित्त होता है, उस चित्तमें तमोगुण अधिक होता है,इसकारण वह आसुरी सम्पत्तियें अधिकतासे इकट्ठी किया करता है, इससे स्थूल होता चलाजाता है, यही बात वशिष्ठ जीने भी कही है—

अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रतया तथा।
पुत्रदारैः कुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥
अहङ्कारविकाशेन ममतामललीलया।

इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ।
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतौ ॥
हेयाहेयविभागेन चेतो गच्छति पीनताम् ।
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ॥
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ।
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च ॥
आस्थादानेन चारेण चेतो गच्छति पीनताम् ।

अनात्म (जड़) पदार्थोंमें आत्मबुद्धि करनेसे, स्थूल शरीरमें दृढ़ अहम्भाव होजानेसे, स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बमें आसक्ति होजानेसे चित्त स्थूल होजाता है । अहङ्कारके बढ़नेसे, ममता रूप मलमें चिपट जाने से, यह मेरा है-ऐसी भावनाका उदय होनेसे चित्त स्थूल होजाता है। आधि व्याधियोंमें फँसनेसे, संसारको सत्य माननेसे और यह त्यागने योग्य तथा यह ग्रहण करने योग्य है ऐसे विभागसे चित्त स्थूल होजाता है । आरम्भमें कुछ देर को अच्छा लगनेवाले स्नेहसे, धनके लोभसे और मुक्ता आदि मणि तथा स्त्रीकी प्राप्तिसे चित्त स्थूल होजाता है । दुराशारूप दूधको पीनेसे, भोगरूप वायुके सेवन से प्राप्तहुए बलसे, जगत्में सत्यत्वकी बुद्धिको स्वीकार करनेसे तथा विषयोंके वनमें विचरनेसे चित्तरूप सर्प स्थूल होता चला जाता है ।

इसप्रकार नाश करने योग्य वासना और मनके स्वरूपका वर्णन किया । अब क्रमसे वासनाक्षय और मनोनाशका वर्णन करते हैं, वशिष्ठजीने वासनाक्षयकी यह रीति बताई है-

बन्धो हि वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः ।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज ॥
मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः ।
मैत्र्यादिभावनानाम्नीर्गृहाणामलवासनाः ॥
ता अप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि ।
अन्तः शान्तसमस्नेहो भव चिन्मात्रवासनः ॥
ता अप्यन्तः परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम् ।
शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तं त्यज ॥

वासनारूप बन्धन ही बन्धन है और वासनाका क्षय ही मोक्ष है। इसलिये पहले वासनाओंका त्याग कर पीछेसे मोक्षकी कामनाको भी त्याग दो। पहले विषयवासना तथा मानसी वासनाओंको त्याग कर मैत्री मुदिता आदिकी भावना नामवाली निर्मल वासनाओंको ग्रहण करो। उन शुभ वासनाओंके द्वारा व्यवहार करते हुए भी अन्तमें उनको भी त्यागकर पीछेसे जिनका स्नेह कहिये विषयोंका प्रेम शान्त होगया है ऐसे तुम केवल चिन्मात्र वासनावाले होजाओ। इस मन बुद्धि सहित चिन्मात्रवासनाको भी त्यागकर सबके अवि-भून वस्तुमें स्थिर वृत्तिको जमा कर और जिससे इस सबको त्यागा है उस वृत्तिको भी त्याग दो।

यहां मानसी वासनामें लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवा-सना लीजायगी, तथा विषयवासना शब्दसे दम्भ गर्व आदि आसुरी संपत्ति लीजायगी। लोक आदिकी वासना कोमल होती है और दंभ दर्प आदि वासना तीव्र होती हैं इसलिये उनको अलग २ दिखाया है अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इन पांच विषयोंकी कामनासे उत्पन्न हुए चित्तमें के संस्कार मानसवासना कहलाते हैं तथा उन विषयोंको भोगने पर उत्पन्न होनेवाले संस्कार विषय-वासना कहलाते हैं। इसप्रकार पूर्वोक्त चारों वासनायें इन दो प्रकार की वासनाओंके भीतर आजाती हैं, क्योंकि-अन्तर्वासना (भीतरी वासना) और बाह्यवासना (बाहरी वासना) के सिवाय औरकोई वासनायें तो हैं ही नहीं।

(शङ्का)-वासनाओंका त्याग कैसे होसकता है? क्योंकि-उनका कोई आकार तो है ही नहीं, यदि कोई आकार होता तो जैसे सोहनी (बुहारी-झाडू) से कूड़ेको इकट्ठा करके घरमेंसे बाहर फेंक देते हैं, ऐसे ही इन वासनारूप कूड़ेको भी शरीरसे बाहर फेंक दियाजाता।

(समाधान)-उपवास तथा जागरणकी समान ही इनको भी समझो। जैसे स्वाभाविक रूपसे अनुभवमें आनेवाली भोजनक्रिया और निद्राका कोई आकार नहीं है तो भी उनका त्यागरूप उपवास और जागरण लोग करते हैं, ऐसे ही यहां भी उनकी विरोधिनी शुभ वासनाओंका ग्रहण ही मलिन वासनाओंका त्याग है।

(शङ्का)-"अद्य स्थित्वा निराहारं श्वो भोक्ष्ये परमेश्वर!" इत्यादि मन्त्रसे सङ्कल्प करके सावधानीके साथ रहे, इसका ही नाम भोजनादिका त्याग है। वासनात्यागमें तो ऐसा कुछ भी नहीं होता है, इसलिये उसका त्याग कैसे कियाजायगा?

(समाधान)-यहां भी इसप्रकार दण्ड-निर्धारित नहीं है अर्थात् इस विषयमें भी ऐसा ही होसकता है, प्रेमोच्चारणपूर्वक सङ्कल्प करके मलिन-वासनाओंका उदय न होय इसके लिये सावधानीसे रहनेकी आवश्यकता है। जिनको वैदिक मंत्र पढ़नेका अधिकार न होवे अपनी मातृभाषामें ही सङ्कल्प करलें। भोजनके त्यागरूप उपवासमें शाक,दाल, भात आदिको समीप न आने देनेकी विधि है, यदि ऐसा मानो तो वासनात्यागमें भी फूलमाला, चन्दन स्त्री आदि विषयोंको समीप न आने देनेका विधान है। यदि कहो कि-उपवास आदिमें क्षुधा, निद्रा, आलस्य आदिको विस्मरण करा देनेवाला पुराणश्रवण देवपूजन, हरिकीर्तन आदि उपायोंसे चित्तको प्रसन्न करना लिखा है तो इस वासनात्यागमें भी मैत्री आदिकी भावनासे चित्तको प्रसन्न करना लिखा है। मैत्री मुदिता आदि चित्तको निर्मल करनेवाले उपाय भगवान् पतञ्जलिने अपने सूत्रोंमें कहे हैं-

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

सुखियोंके साथ मित्रभाव रखना, दुःखियोंके ऊपर दया करना, पुण्यात्माओंको देख कर प्रसन्न होना और पापियोंकी उपेक्षा करना चाहिये, ऐसे विचार रखनेसे चित्त निर्मल होजाता है। राग, द्वेष, पुण्य तथा पापसे चित्तमें मलिनता आती है। राग द्वेषका लक्षण पतञ्जलिने इसप्रकार किया है—

सुखानुशयी रागः॥ दुःखानुशयी द्वेषः।

सब सुख मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार प्रीतिपूर्वक स्वयं अनुभवमें आनेवाले सुखकी तृष्णावाली वृत्तिको सुख कहते हैं। वह दृष्ट वा अदृष्ट सामग्रीके अभावमें प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये वह राग चित्तको कलुषित (मलिन) करता है। 'ये सब सुखी प्राणी मेरे ही हैं, इसप्रकार जब सुखी प्राणियोंमें मैत्रीकी भावना करता है तब ऐसी भावना करनेवालेको दूसरोंका सुख अपना होजानेके कारण उस सुखमेंका राग दूर होजाता है। जैसे अपना राज्य न होने पर भी पुत्र आदिके राज्यको अपना ही माननेसे उसमें राग नहीं रहता है, इसीप्रकार दूसरे सुखी प्राणियोंमें आत्मीय बुद्धि होने पर उस सुखमें पुरुषको राग नहीं रहता है अर्थात् इनका सुख मुझे प्राप्त होजाय, यह वृत्ति रहती है। रागके दूर होजानेसे चौमासा

बीतजाने पर शरद् ऋतुकी नदियें जैसे निर्मल होजाती हैं ऐसे ही उस पुरुषका चित्त निर्मल होजाता है।

ऐसा दुःख मुझे किसी दिन भी प्राप्त न हो, ऐसे दुःखके अनुशय (अनिच्छा) को द्वेष कहते हैं। जब तक शत्रु या व्याघ्र आदि जीव बने रहेंगे तब तक दुःख दूर नहीं होसकता, क्योंकि-दुःखके सकल कारणोंका निवारण नहीं किया जासकता, इसलिये वह हृदयमें सदा दाहको उपजाता रहता है मेरी समान किसी दूसरेको भी प्रतिकूल दुःख प्राप्त न हो, जब इसप्रकार दुःखी प्राणियोंके ऊपर करुणाकी भावना करने लगता है तब शत्रु आदिके ऊपरसे भी द्वेष दूर होजानेके कारण चित्त प्रसन्न होजाता है, इस लिये ही कहा है—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥

जैसे अपने प्राण अपनेको प्यारे हैं ऐसे ही अन्य प्राणीमात्रको भी अपने प्राण प्यारे हैं, इसलिये साधु पुरुष जैसे अपने ऊपर दया करते हैं ऐसे ही और सब प्राणियों के ऊपर भी दया करते हैं। करुणाकी भावनाका प्रकार भी महापुरुषोंने दिखाया है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

इस विश्वमें सब सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सब कल्याणोंको देखें तथा कोई भी दुःख न पावे।

इस विश्वमें प्राणी स्वभावसे ही पाप करते हैं और पुण्य नहीं करते कहा भी है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

मनुष्य पुण्यके फल सुखको चाहते हैं, परन्तु पुण्य करना नहीं चाहते, पापके फल दुःखको नहीं चाहते परन्तु यत्नके साथ पाप करते हैं। ये पाप और पुण्य पश्चात्तापको उत्पन्न करते हैं, पश्चात्तापका स्वरूप श्रुति बताती है, कि—

किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्।

अरे! मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया? अरे! मैंने पाप कर्म क्यों किया?। यदि वह मुमुक्षु पुरुष पुण्यात्मा पुरुषोंमें मुदिताकी भावना

करे तो उस वासनासे स्वयं भी प्रमादरहित होकर पुण्यमें प्रवृत्ति होजाय तथा पापियोंमें उपेक्षाकी भावना करे तो भी पापसे बचजाय। ऐसा करने पर पुण्य न करनेसे और पापको करनेसे जो पश्चात्ताप हुआ करता है वह उसको नहीं होता है और पश्चात्ताप न होनेसे चित्त निर्मल होजाता है।

सुखी पुरुषोंमें मैत्रीकी भावना करनेवालेका केवल राग ही दूर नहीं होता है, किन्तु उसके साथमें असूया ईर्षा आदि दोष भी नष्ट होजाते हैं। दूसरेके गुणोंको सहन न करसकनेका नाम ईर्षा और किसीके गुणोंमें दोष लगानेका नाम असूया है। इस मैत्रीकी भावनासे दूसरेका सुख अपना होजाता है तब वह पुरुष दूसरेके गुणोंमें असूया कर ही नहीं सकता। इसीप्रकार अन्य दोषोंकी निवृत्तिकी भी यथायोग्य कल्पना करलेनी चाहिये। दुःखी प्राणियों पर करुणा की भावना करनेवाले पुरुषका जैसे शत्रुवधादि करनेवाला द्वेष दूर होजाता है ऐसे ही दुःखीपनेके विरोधी सुखीपनेका गर्व भी जाता रहता है। इस गर्वका स्वरूप अहङ्कारके प्रसङ्गसे आसुरी संपत्तिमें पहले कहचुके हैं-

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥

मैं ईश्वर सबको वशमें करनेवाला, मैं भोगी, मैं सिद्ध और बलवान् तथा मैं सुखी हूँ, धनवान् और कुलीन भी मैं ही हूँ, मेरी समान दूसरा कौन है?।

(शङ्का)-पुण्यात्माओंमें मुदिताकी भावना करनेसे पुण्यमें प्रवृत्ति रूप फल होता है, ऐसा जो कहा यह नहीं होसकता, क्योंकि-उसका पहले मलिन शास्त्रवासनाओंमें अन्तर्भाव कियाजाचुका है।

(समाधान)-पुनर्जन्म देनेवाले इष्ट पूर्त आदि काम्यकर्मोंको पहले मलिनवासनाओंमें गिना है और यहां तो उस पुण्यसे प्रयोजन है कि-जो योगाभ्याससे उत्पन्न होता है और अशुक्ल तथा अकृष्ण होनेके कारण पुनर्जन्मका हेतु नहीं है।

योगीके अशुक्ल कृष्णकर्मका वर्णन पातञ्जलसूत्रमें है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

योगीका कर्म अशुक्लकृष्ण होता है तथा अन्य मनुष्योंका शुक्ल (विहित काम्य कर्म) कृष्ण (निषिद्ध) और शुक्लकृष्ण (मिला

हुआ) ऐसा तीन प्रकारका होता है । यह त्रिविध कर्म जन्मका कारण है । ऐसा श्रीविश्वरूपाचार्य कहते हैं—

शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम् ।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥

जीव शुभ कर्मोंसे देवयोनिको पाता है, निषिद्ध पापकर्मोंसे नरक गतिको पाता है, और पुण्यपाप दोनों हों तो मनुष्य जन्मको पाता है

(शङ्का)-योग निषिद्ध नहीं है इसलिये तुम कहसकते हो कि-यह कृष्ण कर्म नहीं है, परन्तु विहित होनेसे इसकी शुक्ल कर्ममें तो गिनती होनी ही चाहिये ।

(समाधान) यह शङ्का मत करो, काम्य कर्म न होनेसे योगको अशुक्ल कर्म माना है इसलिये शुक्लकृष्ण पुण्यकी प्रवृत्तिमें योगी उपेक्षा किया करते हैं ।

(शङ्का)-इसप्रकार तो पुण्यात्माओंमें योग्य रीतिसे मुदिताकी भावना करनेवाले योगियोंकी भी पुण्योंमें प्रवृत्ति होजायगी ?

(समाधान)-होजाय, जो पुरुष मैत्री आदिके द्वारा चित्तकी प्रसन्नताको पाजाते हैं वे ही योगी हैं । ऊपर दिखाये हुए मैत्री आदि चार साधन अभय आदि दैवी संपत्तिके, अमानित्व आदि ज्ञान साधनके तथा जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको बतानेवाले हैं। ये सब शुभवासनारूप हैं इसलिये मलिनवासनाका क्षय करनेवाले हैं

(शङ्का)-शुभवासनायें अनन्त हैं, इसलिये उन सबका अभ्यास एक पुरुष नहीं करसकता,इसकारण सब शुभवासनाओंके अभ्यास का प्रयास करना निरर्थक है ।

(समाधान)-जिनको शुभवासनाओंके द्वारा त्यागाजाना है वे सब मलिन वासनायें भी एक पुरुषमें नहीं होसकतीं । वैद्यकशास्त्रमें लिखी हुई सब औषधोंका सेवन एक मनुष्य नहीं कर सकता और उन सब औषधोंसे दूर होनेवाले सब रोग भी एक ही मनुष्यमें नहीं होसकते । इसलिये जैसे अपने शरीरमें जोर रोग हों उनको दूर करने वाली औषधोंका सेवन करना ही आवश्यक है । ऐसे ही पहले अपने चित्तकी परीक्षा करके उसमें जिस समय जितनी मलिन वासनायें हों उस समय उतनी ही विरोधी शुभ वासनाओंका अभ्यास करें । जैसे पुत्र मित्र स्त्री आदिसे पीड़ा पानेवाला पुरुष उनसे विरक्त होकर पुत्र आदिके त्यागके हेतुरूप संन्यास आश्रमका ग्रहण करता है ।

ऐसे ही विद्यामद, धनमद, कुलमद, आचारमद, आदिसे पीड़ा पाने वाले पुरुषको उनके विरोधी विवेकका सेवन करना चाहिये । यह विवेक श्रीजनकजीने दिखाया है—

अथ ये महतां मूर्ध्नि ते दिनैर्निपतन्त्यधः।
हन्त चित्तमहत्तायाः कैषा विश्वस्तता तव ॥
क्व धनानि महीपानां ब्रह्मणः क्व जगन्ति वा।
प्राक्तनानि प्रयातानि केयं विश्वस्तता तव ॥
कोटयो ब्रह्मणां याता गताः सर्गपरम्पराः।
प्रयाताः पांसुवद् भूपाः का धृतिर्मम जीविते॥
येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ।
तादृशाः पुरुषा नष्टा मादृशां गणनैव का ॥

जो बड़ोंसे भी बड़े हैं वे भी कुछ गिने हुए दिनोंमें नीचे गिरजाते हैं तो हे चित्त ! तुझे इस बड़प्पनका भरोसा कैसे रहता है ? पहले जो बड़े २ राजे होगये हैं उनके धन कहां गये ? तथा ब्रह्माओंके रचे हुए अनन्तों जगत् कहां गये ? जब ये सब गये तो हे चित्त ! तू इस शरीर आदिका विश्वास कैसे कर रहा है ? करोड़ों ब्रह्मा और उन की अनन्त सृष्टियें चली गयीं तथा अनेकों राजे भी धूलिकी समान उड़गये तो फिर मैं ही कैसे विश्वास कर सकता हूँ ? जिनका निमेष उन्मेष (आंखोंके पलक खोलना) होने पर जगत्की सृष्टि और प्रलय होते हैं ऐसे महापुरुष भी नहीं रहे तो मुझ सरीखोंकी तो गिनती ही किनमें है ?

(शङ्का)–यह विवेक तत्त्वज्ञानका उदय होनेसे पुरातन है, क्यों कि—नित्यानित्य विवेक आदि साधनके बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होसकता और यहां जिनको ब्रह्मसाक्षात्कार होगया है उनको जीवन्मुक्ति प्राप्त होनेके लिये तुमने वासनाक्षय आदि साधनोंका वर्णन करना आरम्भ कर दिया है, इसलिये इस विवेकका वर्णन तो अनवसरमें नृत्य करनेकी समान है ।

(समाधान)–साधन चतुष्टय सिद्ध होजानेके अनन्तर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, यह तो सब पुरुषोंका सेवन कियाहुआ बड़ाभारी राजमार्ग है । राजा जनकको तो पुरातन पुण्यपुञ्जका पाक होनेके कारण,जैसे आकाशमेंसे फल आ पड़ता है तैसे ही अकस्मात् सिद्ध-गीताके श्रवणमात्रसे तत्त्वज्ञान होगया था, चित्तविश्रान्तिरूप बोध

रहगयी थी, उसके ही लिये उसने ऐसा विचार किया था, इसलिये हमारा कहना प्रासङ्गिक ही है अकाण्डताण्डव नहीं है ।

(शङ्का)-ऐसा विवेक ज्ञान होजानेके अनन्तर होता है, इसलिये तत्त्वज्ञान होजाने पर मलिनवासनाकी अनुवृत्ति (संसर्ग) नहीं रहनेमें शुभवासनाके लिये अभ्यास करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है ।

(समाधान)—यद्यपि राजा जनकको तत्त्वज्ञान होजानेके अनन्तर मलिनवासनाकी अनुवृत्ति नहीं थी, परन्तु याज्ञवल्क्य भगीरथ आदि में मलिनवासनाकी अनुवृत्ति प्रतीत होती है । याज्ञवल्क्य और उनके प्रतिवादी उषस्तकहोल आदि विजिगीषुकथा (विजय चाहनेवालोंके परस्परके सम्वाद) में प्रवृत्त हुए थे, इससे प्रतीत होता है, कि-उनमें बड़ाभारी विद्याका मद था उनको और ही विद्यायें आती थीं ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं हुई थी, यदि ऐसा कहो तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि-उनमें परस्पर जो प्रश्नोत्तर हुए थे सब ब्रह्मविषयक ही थे । यदि कहो कि-उनको ऊपर ही ऊपरसे ज्ञान था, यथार्थ ज्ञानतत्त्व प्राप्त नहीं हुआ था, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि-तब तो हमको भी उनके ही वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होसकेगा उनको यथार्थ ज्ञान तो अवश्य था परन्तु वह परोक्ष था उसका अनुभव नहीं हुआ था यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि-"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है । इस वाक्यसे मुख्य अपरोक्ष ब्रह्मके ही विषयमें प्रश्न हुआ प्रतीत होता है ।

(शङ्का)—आत्मज्ञानीको विद्याका मद होना आचार्य नहीं मानते क्योंकि—"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः" जो ब्रह्मवेत्तापनेके अभिमानको त्याग देता है वही आत्मज्ञानी है, दूसरा नहीं है । ऐसा उपदेशसाहस्रीमें कहा है और नैष्कर्म्यसिद्धिमें भी लिखा है, कि—

न चाध्यात्माभिमानोऽस्ति विदुषोऽप्यासुरत्वतः ।
विदुषोऽप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम् ॥

ज्ञानवान् पुरुषको ज्ञानीपनेका अभिमान नहीं होता है, क्योंकि-वह अभिमान एक आसुरी सम्पत्ति है, यदि विद्वान्में भी आसुरी सम्पत्ति हुई तो फिर ब्रह्मसाक्षात्कार निष्फल है । इसलिये ज्ञानीको विद्याका मद होना सम्भव ही नहीं है ।

(समाधान) ऊपरके दोनों वचन जीवन्मुक्तिपर्यन्तके तत्त्वज्ञानको

लेकर कहे हैं और जीवन्मुक्तको विप्लावका मद हम भी नहीं मानते।

(शङ्का)-जिसकी विजय पानेकी इच्छा है उसको आत्मज्ञान है ही नहीं क्योंकि-

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।

कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

चित्तरूप व्यायामभूमिमें राग अज्ञानका चिह्न है, जिस वृक्षकी खखोडलमें अग्नि जला करता है उस वृक्षमें गीलापन रह ही कैसे सकता है? ऐसा आचार्यने माना है।

(समाधान)-

रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यति।

उत्खातदंष्ट्रोरगवदविद्या किं करिष्यति॥

तत्त्वज्ञानीमें राग आदि भले ही रहे उनका होना ज्ञानको हानि नहीं पहुँचा सकता, दाढ़ तोड़ने पर सर्पकी समान अविद्या क्या करेगी? इस प्रकार राग आदिको स्वीकार भी आचार्यने ही किया है। इससे आचार्यके वाक्यमें ही परस्पर विरोधकी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि—पहले वचनकी सङ्गति स्थितप्रज्ञमें होसकती है और दूसरे वचनकी व्यवस्था केवल ज्ञानीमें ही घट सकती है। ज्ञानीमें राग आदिका होना माननेसे उनको धर्म अधर्म आदिके द्वारा जन्मान्तर प्राप्त होना चाहिये, शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि-न भुनेहुए बीजकी समान अविद्या आदि सहित मुख्य राग आदि दोष ही पुनर्जन्मके कारण होते हैं। ज्ञानी पुरुषके राग आदि तो भुनेहुए बीजकी समान केवल देखने भरको ही होते हैं, इस भावको ही लेकर कहा है कि-

उत्पद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवह्निना।

तदा तदैव दह्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम्॥

विवेकी पुरुषके अन्तःकरणमें राग आदि दोष जब उपजते हैं तब विवेक सहित ज्ञानरूप अग्निसे भस्म होजाते हैं, इसलिये उनमेंसे फिर अंकुर निकल ही कैसे सकता है?

(शङ्का)-तो स्थितप्रज्ञमें भी राग आदि होनेमें क्या अड़चन है?

(समाधान)-स्थितप्रज्ञ अवस्थामें मुख्यसे भासनेवाले आभास रूप रागादि दोष क्लेशदायक होजाते हैं, जैसे रज्जुमें प्रतीत होने

वाला सर्प भी मुख्य सर्पकी समान भय देताहुआ देखनेमें आता है, ऐसे ही राग आदि आभास रूप होने पर भी क्लेश देनेवाले प्रतीत होते हैं। राग आदि आभासरूप हैं, ऐसा बार २ विचार कियाजाय तो वे स्थितप्रज्ञको कुछ भी बाधा नहीं देते हैं। ऐसा पूर्वपक्षी कहे उसको सिद्धान्ती उत्तर देता है, कि-भाई! चिरकाल तक जीवित रहे, इसको ही हम जीवन्मुक्ति मानते हैं। याज्ञवल्क्यजी विजयकी अभिलाषा रखनेकी दशामें स्थितप्रज्ञ नहीं थे इसकारण उन्होंने चित्तविश्रान्तिके लिये विद्वत्संन्यास पीछेसे ग्रहण किया था। याज्ञवल्क्यजीको केवल विजयकी ही इच्छा नहीं थी, किन्तु धनकी भी बड़ी भारी तृष्णा थी, क्योंकि-बहुतसे ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणोंके सामने खड़े हुए आभूषणधारी एक सहस्र गोधनको स्वयं लेजाकर इस प्रकार कहा था, कि-"नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय नमो गोकामा एव वयं स्मः" अर्थात् हम ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंको प्रमाण करते हैं, हम तो केवल गौओंके अभिलाषी हैं। अन्य ब्रह्मज्ञानियोंका तिरस्कार करनेके लिये उनका यह एक प्रकारका केवल वाक्चातुर्य है, ऐसा मानें तो भी यह एक दूसरा दोष है। अन्य ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण भी 'याज्ञवल्क्य हमारा धन लेगये' ऐसा समझ कर क्रोधमें भरगये, इस कारण इन याज्ञवल्क्यने भी क्रोधमें भर कर शाकल्यको शाप दिया और मार डाला था। इसप्रकार याज्ञवल्क्यने ब्रह्महत्या की थी, इसकारण उनका मोक्ष नहीं होना चाहिये था, यह शंका नहीं करनी चाहिये, कौषीतकि उपनिषद् कहता है, कि-

नाऽस्य केनापि कर्मणा लोको हीयते न मातृवधेन
न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया।

इस ज्ञानवान् पुरुषको प्राप्त हुआ आत्मलोक किसी भी कर्मसे नष्ट नहीं होता है, माताकी हत्यासे पिताकी हत्यासे चोरी करनेसे या भ्रूणहत्यासे भी नष्ट नहीं होता है(१)अन्तमें भगवान् भी अपनी रची आर्यापञ्चाशीतिमें कहते हैं कि-

(१)-इस कथनसे श्रद्धालु पाठकोंके चित्तमें शङ्का उठेगी, कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष चाण्डालसे भी अधिक क्रूरकर्म करनेमें भयभीत नहीं होता है तो ऐसा तत्त्वज्ञानीपना तो हम नहीं चाहते जो कि-एक प्रकारका घोर चाण्डालपना है, इससे तो अज्ञानी ही बने रहना अच्छा है ऐसा विचार कर लोग तत्त्वज्ञानसे बचने लगेंगे और आज कलके बहुतसे वेदान्ती जो अपनेको मिथ्या ब्रह्मज्ञानी मानते हुए मन

माना अनर्गल आचरण करते हैं उनको दुराचरण करनेमें उत्तेजना मिलेगी, परन्तु यह सब अनर्थ इस श्रुति वाक्यका रहस्य अर्थ न समझने पर ही होसकता है। इस वाक्यका तात्पर्य यहां आत्माका असङ्गपना दिखानेमें है, सर्वत्र आत्मदर्शन करनेवाले महात्माकी हिंसा आदिमें प्रवृत्ति तो हो ही नहीं सकती कोई भी पुरुष अपना घात करनेमें प्रवृत्त नहीं होसकता, इसलिये इस श्रुतिका इतना ही अर्थ लिया जायगा कि-शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप आत्माको पुण्य पापका स्पर्श नहीं होता है, परन्तु वध मातृवध आदि चाहे सो पाप करडाले तो भी उसको कोई दोष नहीं लगता, यह उलटा अर्थ नहीं लिया जायगा। परशुरामने वध किया तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि-परशुराम तत्त्वज्ञानी थे, अतः उनको जैसे पाप नहीं लगा था ऐसे ही हम तत्त्ववेत्ता हैं अतः ऐसा कर्म करलेंगे तो हमें भी पाप नहीं लगेगा। इसमें इतना ही अर्थ लिया जायगा, कि-जैसे परशुरामने पिताकी आज्ञा पाली ऐसे ही हमको भी पिताकी आज्ञाका भङ्ग नहीं करना चाहिये। यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ ऐसा भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा है अर्जुन क्षत्रिय है अतः युद्ध करना रूप अपने धर्मका आचरण करनेमें जो हिंसा होजाय उससे दोष नहीं लगेगा क्योंकि- जैसे ब्राह्मणका स्वाध्याय आदि नित्यकर्म है तैसे क्षत्रियको युद्ध करना एक मुख्य नित्यकर्म है, अतः गीताका वचन अर्जुन सरीखे युद्धके अधिकारीके लिये है, अहिंसा आदि गुणोंके अधिकारी ब्राह्मणको हिंसामें प्रवृत्ति करनेके लिये नहीं है।

हयमेधसहस्राण्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः॥

जिसको आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होगया है ऐसा निर्मल पुरुष चाहे लाख अश्वमेध यज्ञ करे और चाहे लाख ब्रह्महत्या करे तो भी अश्वमेधके पुण्यसे और ब्रह्महत्याके पापसे लिप्त नहीं होता है।

इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंमें भी मलिन वासनाका संस्कार है ही, राजा भगीरथने भी तत्त्वज्ञान प्राप्त होजाने अनन्तर राज्यका पालन करते समय उदय होती हुई मलिन वासनाओंके कारणसे चित्तको विश्राम न मिलने पर सबको त्याग कर विश्राम पाया था, यह बात वशिष्ठजीने कही है, इसलिये जैसे कोई पुरुष दूसरेके दोषोंको अनेकप्रकार

से देख सकता है, ऐसे ही जीवन्मुक्त पुरुषको भी अपने अंतःकरण में फुरती हुई वासनाओंको अच्छेप्रकारसे परखकर उनका क्षय करने का अभ्यास करना चाहिये इस ही तात्पर्यसे स्मृति भी कहती है कि-

> यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः ।
> तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात् ।

जैसे कोई अतिचतुर पुरुष दूसरेके दोषोंको देखनेमें अति मग्न होता है, तैसे ही जो अपने दोषोंको देखनेमें निपुण होता है ऐसा कौनसा पुरुष बन्धनसे नहीं छूटजायगा ?

(शङ्का)-तो पहले विद्यामदको दूर करनेका कौनसा उपाय है ?

(समाधान)-क्या तुम अपनेमें स्थित तथा दूसरेके ऊपर व्यवहार कियेजानेवाले विद्यामदके विषयमें प्रश्न करते हो अथवा दूसरे में स्थित और अपने ऊपर व्यवहार किये जानेवाले विद्यामदके विषय में प्रश्न करते हो ? अपनेमें स्थित और दूसरेका तिरस्कार करनेवाले विद्यामदके विषयमें पूछते हो तो उसको निवृत्त करनेका उपाय यह है, अवश्य कोई मेरा तिरस्कार करेगा ऐसा विचार करता रहै जैसे कि--विद्यासे मत्त हुआ श्वेतकेतु मुनि राजा प्रवाहणकी सभामें गया तब उस राजाने उससे पञ्चाग्निविद्याके विषयमें प्रश्न किया परंतु वह तो उस विद्याको जानता ही नहीं था, इसलिये कुछ भी उत्तर न देसका तब पिताके पास आकर अपने अपमानका सब वृत्तान्त कह सुनाया । उसके पिताको मद नहीं था इसलिये उसने उस राजाके पास जाकर पञ्चाग्नि विद्या सीखी । ऐसे ही घमण्डमें भरे बालाकीका राजा अजातशत्रुने तिरस्कार किया था, इस कारण वह घमण्डको त्यागकर उस राजाकी ही शरणमें गया । उपस्त कहोल आदि ब्राह्मण भी विद्याके मदसे याज्ञवल्क्यके साथ विवाद करके अन्तमें उनसे हार गये थे ।

जब दूसरेका विद्यामद अपना तिरस्कार करै उस समय दूसरे भले ही मेरी निन्दा करैं वा अपमान करै मेरे स्वरूपमें इससे कभी लेश भी हानि नहीं आती है, ऐसा विचार किया करे इस ही अभिप्रायको लेकर महापुरुष कहते हैं कि-

> आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वात्मानं स्वयमेव ते ।
> शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम ॥
> निन्दावमानावत्यन्तं भूषणं यस्य योगिनः ।
> धीविक्षेपः कथं तस्य वाग्बाणैः क्रियतामिह ॥

इस संघातमें आत्मा और शरीर है, उसमें दुर्जन यदि मेरे आत्मा की निन्दा करते हैं तो वे स्वयं अपनी ही निन्दा करते हैं, क्योंकि-जो आत्मा मेरा है वही उनका भी आत्मा है और यदि वे शरीरकी निन्दा करते हैं तो वे मेरे सहायक हैं, क्योंकि-शरीरको तो मैं भी निन्दनीय समझता हूं। जिस योगी पुरुषके निन्दा और अपमान परमभूषणरूप हैं उसकी बुद्धिको चाण्डाल पुरुष विघ्नमें कैसे डाल सकते हैं? नैष्कर्म्यसिद्धिमें भी कहा है-

सपरिकरे वर्चस्के दोषतस्त्यागकारिते।
यदि दोषं वदेत्तस्मै किं तत्त्यागकारिणो भवेत्॥
तद्वत्स्थूले तथा सूक्ष्मे देहे त्यक्ते विवेकतः।
यदि दोषं वदेत्ताभ्यां किं तत्र विदुषो भवेत्॥
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः॥

मल मूत्र आदि जिसको कि-मनुष्यने बुरा मान रक्खा है, यदि कोई उसकी बुराइयें कहने लगे तो उसमें मल मूत्रको त्यागनेवालेकी क्या हानि है? इसप्रकार ही विवेकदृष्टिसे स्थूल और सूक्ष्म शरीर का त्याग कर देने पर 'मैं दोनों शरीर मैं नहीं हूँ' ऐसा दृढ़ निश्चय करनेके अनन्तर यदि कोई उन दोनों शरीरोंकी बुराई करनेलगे तो विद्वान् पुरुषकी उसमें क्या हानि है? शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा आदि तथा जन्म, मरण अहङ्कारमें प्रतीत होते हैं ये आत्माके धर्म नहीं हैं। शान्तांकुश नामक ग्रन्थमें निन्दाको भूषणा-रूप बनाया है—

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
  नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषाः परितुष्टिहेतो-
  र्दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति॥
सततसुलभदैन्ये निःसुखे जीवलोके,
  यदि मम परिवादात्प्रीतिमाप्नोति कश्चित्।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा
  जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः॥

यदि कोई पुरुष मेरी निन्दा करनेसे ही सन्तुष्ट होता है तो मुझे कुछ परिश्रम बिना पड़े ही उस पुरुषका मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह हुआ क्योंकि—कल्याण चाहनेवाले मनुष्य दूसरोंको सन्तुष्ट करनेके लिये बड़े परिश्रमसे पायेहुए धनको भी खरच देते हैं। जिसमें सदा दीनपना सहजमें मिल सकता है ऐसे इस सुखरहित जीवलोकमें यदि कोई पुरुष मेरी निन्दा करनेसे प्रसन्न होता हो तो वह मेरे समीपमें या मुझसे दूर भी मरकर निन्दा करलेय क्योंकि—अनेकों दुःखोंसे भरे इस जगत्में सबसे प्रीति होनेका योग दुर्लभ है। अपमानकी भूषणता स्मृतिमें भी कही है—

तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्।

जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥

योगी पुरुष संसारमें इसप्रकार विचरे कि—जिससे लोग अपमान करें और उसका सङ्ग करना न चाहें परन्तु वह बर्ताव सत्पुरुषोंके कर्तव्यको कलङ्कित करनेवाला न हो।

याज्ञवल्क्य उषस्त और कहोल आदिमें जो अपनेमें स्थित तथा दूसरोंमें स्थित विद्यामद थे उन दोनों मदोंका पूर्वोक्त विवेकसे उपाय होसकता है ऐसे ही धनकी तृष्णा और क्रोधका भी निवारण विवेकसे होसकता है। धनके विषयमें इसप्रकार विवेक करना चाहिये——

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने।

नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः।

धनको पानेमें क्लेश होता है उसकी रक्षा करनेमें क्लेश होता है उसका नाश होने पर क्लेश होता है तथा उसका व्यय होजानेसे भी क्लेश होता है ऐसे सब प्रकारसे क्लेश देनेवाले धनोंको धिक्कार है।

क्रोध भी दो प्रकारका होता है एक अपना दूसरेके ऊपर और दूसरा अन्यका अपने ऊपर। इनमें अपनेमें स्थित क्रोधके विषयमें इस प्रकार विवेक करे।

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि॥

यदि तुझे अपकारीके ऊपर क्रोध आता है तो कोप धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका बलात्कारसे घातक होनेके कारण

मदा अपकारी है उसके ऊपर तुझे क्रोध क्यों नहीं आता ? अर्थात् दूसरोंके ऊपर क्रोध न करके क्रोधके ही ऊपर क्रोध करना चाहिये

फलान्वितो धर्मयशोऽर्थनाशनः स चेदपार्थः स्वशरीरतापनः
न चेहनामुत्रहिताय यःसतांमनासिकोपःसमुपाश्रयेत्कथम्

क्रोधका फल यदि दूसरेको किसी प्रकारकी भी हानि पहुंचाना हो तो वह क्रोध करनेवाले पुरुषके धर्म, यश और धनका नाश करता है और यदि वह कुछ भी फल न देसका तो अपनेको आश्रय देने वाले पुरुषके शरीरको ही सन्ताप देता है, इसलिये जो क्रोध इह-लोक और परलोक दोनोंके लिये हितकारी नहीं है उस क्रोधको सत्पुरुषोंका मन कैसे आश्रय दे सकता है ? कभी नहीं देसकता।

अपने ऊपर पड़नेवाले दूसरेके कोपके विषयमें इसप्रकार विचार करना कहा है-

न मेऽपराधःकिमकारणे नृणां मदभ्यसूयेत्यपि नैव चिन्तयेत्
नयत्कृता प्राग्भवबंधनिःसृतिस्ततोऽपराधःपरमो ऽनुचिंत्यताम्

मेरा कुछ अपराध न होने पर भी लोग निष्कारण मेरी निन्दा क्यों करते हैं ? ऐसा भी विचार न करें, किन्तु पहले संसाररूप बन्धनमेंसे मुक्त होनेका विचार नहीं किया था यही मेरा बड़ाभारी अपराध है, यदि ऐसा उपाय कर लिया होता तो आज शरीर ही न धारण करना पड़ता फिर लोग किसकी निन्दा करते ? ऐसा विचार करे।

नमोस्तु कोपदेवाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम्।
कोप्यस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने॥

जिसने अपने आश्रय को दिया उसको ही अत्यन्त जलानेवाले, मैं जो कि—दूसरेके कोपका पात्र हूँ उसको वैराग्य देनेवाले तथा मेरे दोषके स्वरूपका बोध करानेवाले क्रोधरूप देवताको प्रणाम है। जैसे मुख आदिमें के दोषका स्वरूप सामने दर्पण बिना रक्खे नहीं दीखता है, ऐसे ही अन्तःकरणमें रहनेवाले क्रोध आदि दोषोंका दोषरूपसे दर्शन भी, अन्य व्यक्तिमें रह कर उन क्रोधादिकोंको जब अपनेको आश्रय देनेवालेमें ही सन्ताप, मुखभङ्ग, कम्प आदि उत्पन्न करते हुए देखते हैं तब ही होता है, इसलिये ऐसे क्रोधको उत्पन्न होनेसे पहले ही नमस्कार करके विदा कर देना चाहिये।

धनकी तृष्णा और क्रोधकी समान स्त्री और पुत्रकी इच्छा भी

त्यागनेयोग्य है। इन दोनोंके विषयमें विवेककी रीति वशिष्ठजीने दिखायी है। स्त्रीके विषयमें इसप्रकार विचार करना चाहिये—

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम्॥
त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक् कृत्वा विलोचने।
समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरवोपमा।
दृष्टा यस्मिन् स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिनः॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरान्॥
ज्वलतामति दूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम्॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम्।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गीकयाऽनया।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥
इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनीति वासरैः।
ब्रह्मन् कतिपयैरेव याति स्त्री विषयारुताम्॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

नसों और हड्डियोंके आपसमें गठावसे सुन्दर मांसकी पुतलीरूप स्त्रीके, यन्त्रकी समान चञ्चल शरीररूप पिञ्जरेमें क्या अच्छा है ? कुछ भी अच्छा नहीं है। स्त्रीकी आखोंमेंसे त्वचा, मांस, रुधिर और आंसू इन सबको जुदा करके देखलो कि-इनमें कौनसी वस्तु सुन्दर है ?

यदि कोई भी सुन्दर नहीं है तो इसके ऊपर वृथा मोहित क्यों होता है ? जिस स्तनपर पड़ेहुए मोतीके हारकी शोभा मेरुके शिखर पर शोभायमान गङ्गाके प्रवाहकी समान देखी है, उस ही स्त्रीके स्तनको नगरसे दूर श्मशानभूमिमें किसी समय भोजनके छोटेसे पिण्डके रूपमें कुत्ते बड़ी प्रसन्नतासे खाते हैं। स्त्रियें पापरूप अग्निकी ज्वाला की समान हैं, क्योंकि--जैसे अग्निकी ज्वालाके ऊपरी भागमें काजल होता है ऐसे ही यह (कामवासनामेंभरी) स्त्रीरूप पापाग्निज्वाला केशरूप काजलको मस्तक पर धारण करती है, जैसे अग्निकी ज्वाला देखनेमें सुन्दर प्रतीत होने पर भी स्पर्शमें बड़ी दुःखदायी होती है, ऐसे ही यह स्त्री यद्यपि देखनेमें सुन्दर होती है परन्तु इसका स्पर्श बड़ा दुखदायी होता है और जैसे आग तृण आदिको जलाती है ऐसे ही यह स्त्रीरूप पापाग्निकी लपट पुरुषरूप तृणको जला डालती है। वासनासे सरस होनेपर भी विवेकसे नीरस स्त्रियें, दूर यमपुरीमें धधकनेवाली नरकाग्निकी, देखनेमें सुन्दर होनेपर भी परिणाम में, दारुण ईंधनरूप हैं। काम नामवाले व्याधेने मूढ़ चित्तवाले मनुष्य रूप पक्षियोंके शरीरोंको बांधनेके लिये इस संसाररूप वनमें स्त्रीरूप जाल बिछाया है। धनरूप कीचमें फिरनेवाले, जन्म मरणरूप छोटेसे सरोवरके मत्स्यरूप पुरुषोंको खेंचनेवाली, दुर्वासनारूप रस्सीसे बँधी हुई, मच्छीको पकड़नके कांटेमें लगेहुए मांसके टुकड़ेकी समान स्त्री है। सकल दोषरूप रत्नोंको रखनेके डब्बेकी समान तथा दुःख देने वाली जंजीर रूप स्त्रीका मुझे प्रयोजन नहीं है। यहां मांस है तो यहां रुधिर है और इस स्थान पर हड्डियें हैं, शरीरमें ऐसे २ पदार्थ हैं तो भी कितने ही दिनोंतक मोहके कारण हे ब्रह्मन् ! यह स्त्रीरूप विष बड़ा सुन्दर लगता है !! जिसके स्त्री है उसको भोगकी इच्छा है और जिसके स्त्री नहीं है उसको भोगका आधार ही नहीं है, जिसने स्त्रीको त्याग दिया उसने जगत्को त्यागदिया और जगत्का त्याग करनेसे ही पुरुष सुखी होता है।

पुत्रके विषयका विवेक पञ्चदशीके ब्रह्मानन्द प्रकरणमें दिखाया है-

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम्।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते॥
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते॥

पुनश्च परदारादिर्दारिद्र्यश्च कुटुम्बिनः ।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥

यदि पुत्र न होय तो माता पिताको चिरकाल तक दुःख होता है और जब पुत्र गर्भमें आजाता है तो गर्भपातसे या प्रसववेदना से कष्ट देता है । पुत्रके उत्पन्न होजाने पर बालग्रह और उसके रोग आदिसे माता पिताको कष्ट होता है, कुमार अवस्था आजाने पर उस की मूर्खता दुःख देती है, यज्ञोपवीत संस्कार कर देने पर भी यदि वह विद्याहीन होता है तो उससे भी माता पिताको दुःख होता है। जवान होने यदि परदारलम्पट होजाता है तो भी माता पिताको दुःख होता है और यदि पुत्र बहुतसे कुटुम्बवाला तथा दरिद्र अवस्थामें होता है तो भी माता पिताको खेद होता है, यदि धनवान् हुआ और मरगया तो भी माता पिताके दुःखका पारावार नहीं रहता है ।

विद्या, धन, क्रोध, स्त्री तथा पुत्रके विषयकी मलिन वासनाओं की निवृत्ति जैसे विवेकसे होती है तैसे ही अपने भीतर और जो जो वासनायें प्रतीत होती हों उन सबोंकी निवृत्ति भी शास्त्रके उपदेश और युक्तियोंसे करे । ऐसा करनेसे जीवन्मुक्तिरूप परमपद मिलता है ऐसा वशिष्ठजी कहते हैं—

वासनासंपरित्यागे यदि यत्नं करोष्यलम् ।
तास्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात्संत्यज्य वासनाः ।
स्थितिं बध्नासि चेत्तर्हि पदमासादयस्यलम् ॥

हे राम ! यदि तुम वासनाओंके त्यागके लिये पूर्ण यत्न करोगे तो क्षणभरमें सब आधि व्याधियें शिथिल होजायँगी । पुरुषार्थके बलसे वासनाओंको त्याग कर यदि स्वरूपमें वृत्तिकी स्थिति बांध लोगे तो पूर्ण परमात्मपदको पाजाओगे ।

(शङ्का)--यहां पुरुषार्थ शब्दसे पीछे कहा हुआ विषयोंका दोषों के विषयका विवेक लियाजायगा, परन्तु इस विवेकको करलेने पर भी अति प्रबल इन्द्रियोंका वेग विवेकका विध्वंस करडालता है, यह बात भगवान्ने गीतामें भी कही है-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

हे अर्जुन! यत्न करनेवाले विवेकी पुरुषके मनको भी मथ डालनेवालीं इन्द्रियें बलात्कारसे विषयोंमेंको खेंचकर लेजाती हैं। क्योंकि-अपने २ विषयोंकी ओरको चलती हुई इन्द्रियोंमेंसे यदि एक इन्द्रियके साथ भी मन जुटजाता है तो वह एक इंद्रिय भी उस साधक पुरुषकी बुद्धिको ऐसे खेंचकर लेजाती है जैसे जलमें नौका को वायु खेंचकर लेजाता है।

(समाधान)-यदि इन्द्रियें विवेकका विध्वंस करती हों तो उपजे हुए विवेककी रक्षाके लिये इन्द्रियोंका निरोध करे, यह बात भी भगवान्‌ने उन दोनों श्लोकोंसे अगले ही श्लोकमें कही है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

मेरा अनन्य भक्त इन सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर स्थिर चित्तसे बैठे, जिसकी इन्द्रियें वशमें होती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है। इसलिये हे महाबाहो! जिसकी सब इंद्रियें अपने २ विषयोंसे रोकली गयी हैं उसकी बुद्धि स्थिर है। अन्य स्मृतिमें भी कहा है—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः।
न च वाक्चपलश्चैवमिति शिष्टस्य लक्षणम्॥

संन्यासी हाथ पैरोंको चपल न रक्खे, नेत्रोंको चपल न रक्खे, अर्थात् विशेष प्रयोजनके विना किसीसे वातचीत न करे, ये सब शिष्ट पुरुषोंके लक्षण हैं। इस विषयको अन्यत्र संक्षेपमें तथा विस्तारसे स्पष्ट किया है—

अजिह्वः षण्ढकः पंगुरन्धो बधिर एव च।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः॥

जिह्वारहित, षण्ढ, लूला, अन्धा, बहरा तथा मूढ़ भिक्षु अजिह्वत्व आदि छः गुणोंसे मुक्त होजाता है, इसमें सन्देह नहीं है।

इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते।

हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥

भोजनके समय जो पुरुष भोजन करता हुआ भी यह वस्तु मुझे अच्छी लगती है, यह वस्तु मुझे अच्छी नहीं लगती, ऐसे विचारसे भोजनके पदार्थोंमें आसक्त नहीं होता है तथा हित, सत्य और थोड़ा अर्थात् जितना प्रयोजन हो उतना ही बोलता है उसको अजिह्व कहते हैं।

अद्य जातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षाञ्च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्ढकः ॥

जैसे आज उत्पन्न हुई और सौ वर्षकी बूढ़ी स्त्रीको देख कर पुरुष निर्विकार रहता है तैसे ही सोलह वर्षकी युवती स्त्रीको भी देख कर जो निर्विकार रहता है वह षण्ढ कहलाता है।

भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पंगुरेव सः ॥

जिसका घूमते फिरना केवल भिक्षाके निमित्त या मल मूत्रका त्याग करनेके लिये है तथा जो एक योजनसे आगे नहीं जाता है अर्थात् जो निष्प्रयोजन इधर उधर घूमता नहीं फिरता है वह सर्वथा पंगु ही है।

तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्युगां भुवं त्यक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥

खड़ेहुए अथवा चलतेमें जिसकी दृष्टि सोलह हाथ भूमिसे आगे नहीं जाती है वह संन्यासी अन्ध कहलाता है।

हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहञ्च यत् ।
श्रुत्वा यो न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्त्तितः ॥

हित, अहित, मनोहर और शोक उपजानेवाले वचनको सुननेपर भी जो मानो सुना ही नहीं ऐसा रहता है अर्थात् उससे हर्ष शोक नहीं मानता है वह बधिर कहलाता है।

सांनिध्ये विषयाणाञ्च समर्थोऽविकलेंद्रियः ।
सुप्तवद्वर्त्तते नित्यं भिक्षुर्मुग्धः स उच्यते ॥

विषय पासमें हो, अपनेमें विषयोंको भोगनेकी सामर्थ्य हो और सब इन्द्रियें अविकल (स्वस्थ) हों, फिर भी जो ऐसा बर्त्ताव करे मानो सो रहा है वह यति मुग्ध कहलाता है।

न निन्दां न स्तुतिं कुर्य्यान्न किञ्चिन्मर्माणि स्पृशेत् ।

नातिवादी भवेत्तद्वत्सर्वत्रैव समो भवेत् ॥
न संभाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टाञ्च न स्मरेत् ।
कथाञ्च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥

किसीकी निन्दा या स्तुति न करै, किसीको मर्मभेदक वचन न कहै, बहुत अधिक न बोला करै, सबके साथ समानभाव रक्खे, किसी भी स्त्रीके साथ बातें न करै, पहले देखी हुई स्त्रीको याद न करै, स्त्रियोंके विषयकी बातें न करै और तसवीरमें बनीहुई स्त्रीकी ओर को भी न देखे ।

जैसे कोई व्रत करनेवाला पुरुष रातके समय खानेका, एक समय खानेका, निराहार रहनेका अथवा मौन रहने आदिका व्रत धारण करके सावधानीके साथ उसका सम्यक् पालन करता हुआ, किसी दिन भी उसका भङ्ग नहीं करता है। वैसे ही पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य आदि व्रतमें स्थित पुरुषको भी सावधानीके साथ उत्तमतासे विवेकका पालन करना चाहिये। इस प्रकार चिरकाल पर्यन्त निरन्तर तथा आदरके साथ सेवन किये हुए विवेक तथा इन्द्रियनिरोधसे पीछे कही हुई मैत्री आदि भावनायें स्थिर होकर आसुरी संपत्तिरूप मलिन वासनाओंका क्षय होजाता है । उनका क्षय होनेसे श्वास प्रश्वासकी समान अथवा पलक खोलने और बन्द करनेकी समान पुरुषके प्रयत्नके बिना ही प्रवृत्त हुई मैत्री आदि भावनाओंके कारणसे जगत् का व्यवहार करने पर भी, चाहे वह व्यवहार ठीक २ सिद्ध होजाय और चाहे उसमें किसी प्रकारकी कमी रहजाय, तथापि उसकी चिन्ताको चित्तमेंसे त्यागकर तथा निद्रा, तन्द्रा और मनोराज्य (मनकी मिथ्यातरङ्गों)को भी उद्योगके द्वारा शान्त करके सबप्रकारसे चैतन्यवासनाका अभ्यास करै । यह जगत् स्वतः चैतन्य तथा जड़ इन दो स्वरूपोंसे भास रहा है, जोकि-"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः" ब्रह्माने इन्द्रियोंको विषयोंके अभिमुख करके इनकी हिंसा की, ऐसा श्रुति कहती है, इसलिये यद्यपि शब्द स्पर्श आदि जड़ पदार्थोंने ही प्रकाश करनेके लिये इन्द्रियोंको रचा है तथापि जड़का (विवर्तका) उपादान कारण चैतन्य ही है, इसकारण जड़ पदार्थ चैतन्यसे जुदे नहीं होसकते, इसलिये चैतन्यपूर्वक ही जड़ पदार्थका भान होता है "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उसके ही भानपूर्वक सब भासित होता है, उस परमात्माके प्रकाशसे ही यह

सब भास रहा है। ऐसा श्रुति कहती है, इसकारण चैतन्य कि-जिस का प्रथम भान होता है, वही पीछेसे भासनेवाले जड़ पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप है। ऐसा निश्चय करता हुआ जड़ पदार्थकी उपेक्षा करके चैतन्यकी ही वासनाको जगावे। यह बात बलि और शुक्राचार्य के सम्वादसे स्पष्ट समझमें आजाती है—

> किमिहास्तीह किम्मात्रमिदं किम्मयमेव च।
> कस्त्वं कोऽहं क एते वा लोका इति वदाशु मे॥
> चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च।
> चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः॥

यहां क्या है? इस सबका रूप क्या है? यह कौन है? तू कौन है? मैं कौन हूँ? ये लोक कौन हैं? यह सब मुझे शीघ्र बता। इस प्रकार राजा बलिने बूझा तब शुक्राचार्यने उत्तर दिया, कि—जो यहां है वह चैतन्य है, यह सब चैतन्य है यह चैतन्य ही है, तू चैतन्य है, मैं चैतन्यस्वरूप हूँ तथा ये लोक भी चैतन्यस्वरूप हैं, यह संक्षेपमें उत्तर है।

जैसे कोई सुनार कड़े खरीदता होय तो वह कड़ोंके आकारके (बनावटके) गुण दोषों पर ध्यान न देकर केवल उसकी तोल तथा रङ्ग पर ही ध्यान देना चाहता है, ऐसे ही मुमुक्षु पुरुष मिथ्या नामरूपात्मक जड़ वस्तु पर ध्यान न देकर जड़के पूर्वमें भासनेवाले चैतन्यके ऊपर ही मनको स्थिर रक्खे। जैसे श्वास प्रश्वासकी क्रिया अनायास अपने आप ही हुआ करती है, ऐसे ही जड़की उपेक्षा करके जबतक केवल चैतन्यमें ही मनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो तबतक चैतन्यवासनाका ही अभ्यास करना चाहिये।

(शङ्का)-पहले चिन्मात्रवासनाका ही अभ्यास करना चाहिये और मलिनवासनाकी निवृत्ति भी इस चिन्मात्र वासनासे ही होजायगी तो फिर मैत्री आदि शुभवासनाओंके अभ्यासको बीचमें वृथा डालनेकी क्या आवश्यकता है?

(समाधान)-मैत्री मुदिता आदि शुभ वासनाओंका अभ्यास किये विना चैतन्यवासना दृढतासे नहीं जमसकती, जैसे पायेको दृढ किये विना स्तम्भ भीत आदिका समूहरूप घर चिरकालतक स्थिर नहीं रह सकता तथा जैसे विरेचन (जुलाब) से सब दोषोंको निकाले विना रसायनका सेवन करने पर भी वह आरोग्यदायक नहीं होता

है, ऐसे ही मैत्री आदि शुभवासनाओंका अभ्यास किये विना पहले से ही चैतन्यवासनाका अभ्यास सिद्ध नहीं होसकता।

(शङ्का)-"तामप्यथ परित्यजेत्" पदसे उस चिन्मात्र वासनाको भी त्यागदेय। ऐसा कहकर चिन्मात्र वासनाको भी हेय गिना यह तो ठीक नहीं है, क्योंकि—चैतन्यका त्याग करके उसके विना तो और कोई भी पदार्थ उपादेय ही नहीं होसकता।

(समाधान)-यह दोष वास्तवमें नहीं है, क्योंकि-चिन्मात्रवासना दो प्रकारकी है-एक मन बुद्धि सहित और दूसरी मन बुद्धि रहित। ध्यान आदि भीतरी कोई भी क्रिया हो मन उसका करण है अर्थात् मनके द्वारा ही होसकती है और बुद्धि कर्त्तापनेकी उपाधिरूप है, अर्थात् मैं अमुक काम करता हूँ, ऐसी वृत्ति ही बुद्धि का स्वरूप है, इसलिये सावधान हुआ मैं एकाग्र मनसे केवल चैतन्यकी भावना करूँगा इसप्रकार कर्त्ता कहिये बुद्धि और करण कहिये मन इन दोनोंका अनुसन्धान करते हुए आरम्भकालमें जो चिन्मात्र वासना है, उसका ही नाम ध्यान है, इस मन—बुद्धि-पूर्वक चिन्मात्र वासनाको त्यागदेय और अधिक अभ्याससे बुद्धि तथा मनके अनुसन्धानके विना ही जो समाधि नामकी चिद्वासना है उसको ग्रहण करे। ध्यान तथा समाधिका लक्षण भगवान् पतञ्जलिने अपने सूत्रोंमें इसप्रकार किया है-"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" 'स्वरूपशून्यमिव समाधिः' अर्थात् मूर्धा आदि देशमें ध्येय विषयक वृत्तिके एकसमान प्रवाहको ध्यान कहते हैं तथा अर्थ मात्रका ही प्रकाश करनेवाले ध्यानके स्वरूपसे शून्यसी समाधि कहलाती है। चिरकाल पर्यन्त आदरके साथ निरन्तर सेवन कीहुई इस प्रकारकी समाधिमें स्थिरता प्राप्त करलेने पर मन बुद्धिके अनुसन्धानको त्यागनेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नको भी त्यागदेय।

(शङ्का)-इसप्रकार तो जैसे मन बुद्धिके त्यागके लिये यत्नका त्याग करे, तैसे ही इस त्यागके लिये यत्न करना भी त्यागदेय, फिर उस त्यागके लिये भी यत्न करना त्यागदेय, इसप्रकार अनवस्था दोष आपड़ेगा।

(समाधान)-जैसे मैले पानीमें डाली हुई निर्मलीके फलकी रज अन्य रज (मैल वा धूलि) के साथ अपना भी नाश करलेती है, ऐसे ही कर्त्ता (बुद्धि) तथा करण (मन) के अनुसन्धानका त्याग करने के लिये किया हुआ यत्न कर्त्ता और करणके अनुसन्धानकी निवृत्ति

के साथ अपनी भी निवृत्ति करलेगा। इस यत्नके निवृत्त होजाने पर मलिन वासनाओंके समान शुद्ध वासनायें भी क्षीण होजायँगी, इस कारण मन वासनाओंसे शून्य होजायगा। इस ही तात्पर्यसे भगवान् वशिष्ठजी कहते हैं कि-

तस्माद्वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः।
राम निर्वासनीभावमाहराशु विवेकतः॥

वासनायुक्त मन बद्ध होता है और वासना रहित हुआ मन मुक्त होता है, इसलिये हे राम! शीघ्र ही विवेकके द्वारा निर्वासनपनेको प्राप्त कर।

सम्यगालोचनात्सत्याद्वासना प्रविलीयते।
वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत्॥

ठीक २ विचार करके सकल जगत्का त्यागरूप बाध होजानेसे वासनायें लीन होजाती हैं और वासनाओंका लय होजानेसे जैसे दीपक शान्त होजाय (बुझ जाय) तैसे ही वासनायें शान्त होजाती हैं।

यो जागर्त्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोध स जीवन्मुक्त उच्यते॥

जो अविद्यारूप निद्रा उडजानेसे जागता हुआ होकर भी सुषुप्तिमें स्थित पुरुषकी समान केवल स्वरूपमें ही स्थित है, जिसको ज्ञानके कारण दृढ और इन्द्रियोंका बाध होजानेसे इन्द्रियोंके द्वारा विषयों का ग्रहणरूप जाग्रत् अवस्था नहीं है तथा जिसको जाग्रत्की वासना से होनेवाली स्वप्न अवस्था भी नहीं है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

सुषुप्तिवत्प्रशमितभाववृत्तिना स्थितं सदा-
जाग्रति येन चेतसा। कलान्वितो विधुरिव यः
सदा बुधैर्निषेव्यते मुक्त इतीह स स्मृतः॥

जैसे सुषुप्ति अवस्थामें चित्त विषयोंके आकारका नहीं होता है, तैसे ही जाग्रत् अवस्थामें भी जो विषयाकार वृत्तिरहित चित्तमें स्थित है तथा जिसको कलावान् चन्द्रमाकी समान विवेकी पुरुष यहां निरन्तर सेवते हैं वह पुरुष मुक्त कहलाता है।

हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः॥

जो महामति पुरुष हृदयमेंसे सब विषयवासनाओंको त्याग कर चित्तकी व्यग्रतासे मुक्त रहता है वह मुक्त पुरुष साक्षात् परमेश्वर है

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वाशो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥
नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥
विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।
सन्त्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥

जिसके हृदयमेंसे सब आशायें शान्त होगयी हैं,वह पुरुष समाधि अथवा सत्कर्मोंको करे, पर चाहे न करे, परन्तु वह उत्तम आशयवाला पुरुष सदा मुक्त ही है। जिसका मन वासनाओंसे रहित होगया है उस पुरुषको कर्मका त्याग करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है तैसे ही उस को कर्म करनेका भी कुछ फल नहीं है, तथा समाधि और जपका भी कुछ प्रयोजन नहीं है। पूर्ण रीतिसे शास्त्रका विचार किया हो तथा परस्पर वार्त्तालाप करके शास्त्रका तात्पर्य परस्परमें एकने दूसरेको ग्रहण कराया हो तो भी वासनात्यागरूप मौनके विना उत्तम पदवी नहीं मिल सकती।

वासनारहित मनवाले पुरुषका कोई भी व्यवहार यथावत् सिद्ध नहीं होसकता, यहां ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि-चक्षु आदि इन्द्रियोंका व्यवहार और मनका व्यवहार यह दो प्रकारका व्यवहार हैं, इनमें से कौनसा व्यवहार सिद्ध नहीं होता ? यदि कहो कि--इन्द्रियोंका नहीं होसकता तो उद्दालकमुनि इस बातका खंडन करते हैं, कि-

वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः ।
प्रवर्त्तते वहिः स्वार्थे वासना नात्र कारणम् ॥

ये चक्षु आदि इन्द्रियें वासनाके विना भी अपने २ विषयोंमें को अपने आप ही जाती हैं, इन्द्रियोंके बाहर अपने २ विषयमेंको जानेमें वासना कारण नहीं है।

वासनाका क्षय होनेसे मनका व्यवहार भी बन्द नहीं होजाता है, ऐसा वशिष्ठजी कहते हैं-

अयत्नोपनतेष्वक्षिदिग्द्रव्येषु यथा पुनः ।
नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः ॥

मार्गमें जाते हुए विना ही यत्नके प्राप्त हुई चारों दिशाओंमाके

वस्तुओं पर जैसे दृष्टि बिना ही रागके पड़ती है, ऐसे ही विवेकी पुरुषके अन्तःकरणोंकी वृत्ति सब कामोंमें बिना रागके ही प्रवृत्त हुआ करती है।

रागरहित बुद्धिसे प्रारब्धभोग भी सिद्ध होता है, जैसा कि-वशिष्ठजी कहते हैं—

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये।
विज्ञाय सेवितश्चौरो मैत्रीमेति न चौरताम्॥
अशङ्कितोपसम्प्राप्ता ग्रामयात्रा यथाध्वगैः।
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते॥

जैसे चोरको चोररूपसे पहचान कर उसका साथ करो तो वह चोर मित्र बनकर बर्त्ताव करने लगता है और वह अपनी चोरी नहीं करता है, ऐसे ही विषयभोगमें जो २ दोष हैं उनको यथार्थरूप से जानकर भोगो तो वे तृष्णाको न बढ़ा कर सन्तोषको ही उत्पन्न करते हैं, जैसे मार्गमें चलनेवाले बटोही निःशङ्कभावसे प्राप्तहुई ग्रामयात्राओंको (एकके पीछे एक आनेवाले ग्रामोंको) देखते हैं ऐसे ही ज्ञानी पुरुष भोगलक्ष्मीको उदासीन दृष्टिसे देखता है। भोग के समय भी वासनावान् पुरुषकी अपेक्षा वासनाहीन पुरुष श्रेष्ठ है यह बात वशिष्ठजीने दिखायी है—

नापदि ग्लानिमायाति हेमपद्मं यथा निशि।
नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि॥
नित्यमापूर्णतामन्तरक्षुब्धामिन्दुसुन्दरीम्।
आपद्यपि न मुञ्चन्ति शशिनः शीततामिव॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विगताशयाः।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव॥

जैसे सोनेका बनाया हुआ कमल रात्रिमें भी नहीं मुँदता है, ऐसे ही जीवन्मुक्त पुरुष आपत्तिमें भी दीनताके वशमें नहीं होता है, प्रवाहसे प्राप्त हुए कार्यके सिवाय और कार्य करना नहीं चाहता है तथा शिष्ट पुरुषोंके ही मार्गसे चलकर आनन्द पाता है। चन्द्रमा की समान सुन्दर, शीतल तथा विकाररहित पूर्णताको आपत्तिकाल में भी नहीं छोड़ता है। वासनारहित महान् पुरुष समुद्रकी समान मर्यादाको नहीं त्यागते हैं। तथा सूर्यकी समान सनातन नियमको भी नहीं त्यागते हैं।

समाधिमेंसे जाग्रत् होजानेके अनन्तर जनकका ऐसा ही आचरण योगवाशिष्ठमें वर्णन किया है—

> तूष्णीमथ चिरं स्थित्वा जनको जनजीवितम्।
> व्युत्थितश्चिन्तयामास मनसा शमशालिना॥
> किमुपादेयमस्तीह यत्नात्संसाधयाम्यहम्।
> स्वतः स्थितस्य शुद्धस्य चितः का मेऽस्ति कल्पना॥
> नाभिवाञ्छाम्यसम्प्राप्तं सम्प्राप्तं न त्यजाम्यहम्।
> स्वस्थ आत्मनि तिष्ठामि यन्ममास्ति तदस्तु मे॥
> इति सञ्चिन्त्य जनको यथाप्राप्तक्रियामसौ।
> असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ दिनं दिनपतिर्यथा॥
> भविष्यन्नानुसन्धत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ।
> वर्त्तमाननिमेषन्तु हसन्नेवानुवर्त्तते॥

चिरकाल तक शान्त रह कर जाग्रत् होने पर, शान्तियुक्त चित्त से जनकने जनके जीवनके कारणरूप आत्मस्वरूपमें विचार करना आरम्भ करदिया-इस जगत्में अब मेरे ग्रहण करने योग्य कौनसी वस्तु है कि-जिसको मैं यत्न करके सिद्ध करूँ ? मैं स्वतः सिद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसे मुझको क्या कल्पना करनी है ? मैं जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसकी इच्छा नहीं करता तथा प्राप्तवस्तुको त्यागता नहीं, मैं तो केवल स्वस्थ रूपसे स्वरूपमें ही स्थित हूँ, प्रारब्धसे प्राप्त जो वस्तु मेरी गिनी जाती हो वह भले ही रहो। ऐसा विचार करके जैसे सूर्यनारायण अधिकारवश प्राप्त हुई दिनरूप क्रियाको करते हैं ऐसे ही राजा जनक भी आसक्तिरहित हो यथाप्राप्त क्रिया करने के लिये उठा। वह राजा भविष्यका विचार नहीं करता था, भूतका स्मरण नहीं करता था और वर्त्तमान समयका हँसताहुआ अनुसरण किया करता था।

इसप्रकार यह सम्यक् प्रकारसे सिद्ध होगया, कि—यथाविधि पूर्वोक्त वासनाओंके क्षयसे यथार्थ जीवन्मुक्ति सिद्ध होजाती है।

इति वासनाक्षयनामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्

—०—

॥ अथ मनोनाशप्रकरणम् ॥

अब जीवन्मुक्तिके साधनरूप मनोनाशका वर्णन करते हैं। यद्यपि सकल वासनाओंका क्षय होजानेसे मनका नाश अपने आप होजाता है तथापि स्वतन्त्र मनोनाशका शास्त्रकी रीति पर अभ्यास करनेसे वासनाक्षयकी रक्षा होती है अर्थात् वासना फिर उदय नहीं होसकती मौनभाव, पथढपना आदि पूर्वोक्त साधनोंके अभ्याससे वासनाक्षयकी रक्षा स्वयं सिद्ध ही होजाती है, ऐसी शङ्का यहां नहीं करनी चाहिये क्योंकि-मनोनाश होजानेसे मौन पथढत्व आदि अपने आप सिद्ध तो होजाते हैं, परन्तु उनका अभ्यास करनेके लिये उद्योग करना पड़ता है।

(शङ्का)-अजिह्वत्व आदिमें भी मनोनाशका अभ्यास तो है ही फिर स्वतन्त्ररूपसे मनोनाशके लिये उद्योग क्यों किया जाय?

(समाधान)-मनोनाशका अभ्यास उसमें भी भले ही हो, परंतु मनोनाशके अभ्यासकी आवश्यकता होनेसे स्वतंत्ररूपसे मनोनाशका अभ्यास किये बिना अजिह्वत्व आदि साधन स्थिर नहीं रहते, इस लिये जनकने मनोनाशका साधन करना कहा है-

सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः ।
अस्य संसारवृक्षस्य मनो मूलमिति स्थितम् ॥
सङ्कल्पमेव तन्मन्ये सङ्कल्पोपशमेन तत् ।
शोषयामि यथाशोषमेति संसारपादपः ॥
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दृष्टश्चौरो मयात्मनः ।
मनो नाम निहन्म्येनं मनसास्मि चिरं हृतः ॥

इस हजारों अंकुर, शाखा, पत्ते और फलोंवाले संसाररूप वृक्षका मूल मन ही है, इसमें सन्देह नहीं है। सङ्कल्प ही उसका स्वरूप है, अतः सङ्कल्पोंको शान्त करनेके लिये मनको सुखाता हूँ कि-जिससे यह संसाररूप वृक्ष भी सूखजाय। अब मैं समझगया, समझगया, मैंने आत्मधनको चुरानेवाले मन नामक चोरको देखपाया है, इस लिये अब आज मैं इसको मारे डालता हूँ, क्योंकि-इसने मुझे चिर काल तक सताया है। वशिष्ठजी कहते हैं—

अस्य संसारवृक्षस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥

मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला ॥
तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥
हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥
एतावति धरणितले सुभगास्ते साधुचेतनाः पुरुषाः।
पुरुषकथासु च गण्या न जिता ये चेतसा स्वेन ॥
हृदयबिले कृतकुंडल उल्वणकलनाविषो मनोभुजगः।
यस्योपशान्तिमगमच्चन्द्रवदुदितं तमभ्ययं वन्दे ॥

अनेकों प्रकारके कष्टरूप फलोंको देनेवाले इस संसाररूप वृक्ष को जड़से उखाड़डालनेका केवल यही उपाय है, कि--अपने मनका निग्रह करे। मनका उदय ही पुरुषका नाश है और मनका नाश ही उसका बड़ाभारी अभ्युदय है। ज्ञानवान्‌के मनका नाश हो-जाता और अज्ञानीका मन उसको बन्धनमें डालनेवाली जंजीरकी समान है। जब तक एक परमतत्त्वके दृढ़ अभ्याससे अपने मनको नहीं जीता तबतक आधी रातके समय नाचनेवाले पिशाचोंकी समान वासनायें हृदयमें नाचा करती हैं। जिसके चित्तका गर्व शान्त हो गया है तथा जिसने इन्द्रियरूप शत्रुओंको जीतकर वशमें करलिया है उसकी भोगवासनायें ऐसे क्षीण होजाती है जैसे शीतकालमें बरफ पड़नेसे कमलिनियें नष्ट होजाती हैं। हाथसे हाथको दाबकर दांतोंसे दांतोंको पीस कर तथा अङ्गोंसे अङ्गोंको दबोच कर पहले अपने मन को जीते। जो पुरुष अपने मनसे नहीं जीतेगये हैं अर्थात् जिनको मनने नहीं दबालिया है वे पुरुष ही इस विशाल भूमंडलमें भाग्यवान् हैं, उत्तम बुद्धिवाले हैं तथा पुरुषोंमें भी उनकी ही गिनती होसकती है। हृदयरूप बिलमें लिपट कर बैठाहुआ, सङ्कल्प विकल्प ही जिस का भयानक विष है ऐसा मनरूप सांप जिसका मरगया है उस चन्द्रमाकी समान उदयको प्राप्त निर्विकार पुरुषको मैं प्रणाम करता हूँ

चित्तं नाभिः किलास्येदं मायाचक्रस्य सर्वतः ।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किञ्चित्प्रबाधते ॥

इस मायाचक्रकी नाभि वास्तवमें यह चित्त ही है, जो इसको चारों ओरसे दबा कर बैठजाता है, उसको यह जरा भी बाधा नहीं देसकता। श्रीगौडपादाचार्यने भी कहा है-

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥

सब योगियोंको निर्भयताकी प्राप्ति हो यह बात मनके निग्रहके अधीन है तथा दुःखकी निवृत्ति, ज्ञान और अक्षय शान्ति भी मनके निग्रहके ही अधीन हैं। अर्जुनने भी कहा है-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण ! यह मन प्रसिद्ध रीतिसे चञ्चल, शरीर इन्द्रियोंको विह्वल करनेवाला बलवान् तथा दृढ–अभेद्य है, अतः इसके निरोधको मैं वायुके निरोधकी समान अति कठिन काम मानता हूँ।

यह वचन हठयोगके विषयका है अर्थात् हठयोगसे मनका निरोध करना अत्यन्त कठिन है इस अभिप्रायसे अर्जुनने यह बात कही है। इसलिये ही वशिष्ठजीने भी कहा है—

उपविश्योपविश्यैकचित्तकेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥
अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ।
विजेतुं शक्यते नैव तथा युक्त्या विना मनः ॥
मनोविलयहेतूनां युक्तीनां सम्यगीरणम् ।
वशिष्ठेन कृतं तावत्सन्निष्ठस्य वशे मनः ।
हठतो युक्तितश्चापि द्विविधो निग्रहो मतः ।
निग्रहो धीक्रियाक्षाणां हठो गोलकनिग्रहात् ।
कदाचिज्जायते कश्चिन्मनस्तेन विलीयते ।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।

एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ॥
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ।
विमूढाः कर्त्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ॥
ते निघ्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ।

चित्तको एकाग्र करके भले ही वार २ एकान्तमें जाकर बैठा करो परन्तु जबतक निर्दोष युक्तियें नहीं आती होंगी तबतक मन वशमें नहीं होसकता । जैसे मतवाला हुआ हाथी, विना अंकुशके वशमें नहीं किया जा सकता, ऐसे ही विना युक्तिके मन वशमें नहीं हो सकता । मनको वशमें करनेकी युक्तियोंका यथावत् वर्णन वशिष्ठजी ने किया है, इसलिये उन युक्तियोंका सेवन करनेवाले पुरुषका मन अपने वशमें होजाता है । मनका निग्रह दो प्रकारसे होता है—एक हठसे और दूसरा युक्तियोंसे, उसमें इन्द्रियोंके गोलकोंको बन्द करने से ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका जैसे हठयोगके द्वारा निग्रह होता है ऐसा ही कदाचित् मनका भी निग्रह होता होगा, ऐसी भ्रान्ति मूढ़ पुरुषोंको हो सकती है, परन्तु ऐसा होना अशक्य है, अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति, सत्पुरुषोंकी, सङ्गति, वासनाका त्याग और प्राणकी गतिका निरोध ये चार बलवती युक्तियें चित्तका जय करनेके लिये हैं । ऐसी बलवती युक्तियोंके होते हुए जो चित्तको मनमाने बलात्कार से रोकते हैं वे पुरुष अन्धकारको हटानेके साधन दीपकको छोड़कर काजलसे अन्धकारको दूर करना चाहते हैं । जो मूढ़ पुरुष हठसे चित्तको जीतनेका उद्योग करते हैं वे मतवाले हाथीको कमलके तन्तु बांधते हैं ।

निग्रह दो प्रकारका है—एक हठ-निग्रह और दूसरा क्रमनिग्रह । चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंके और वाणी हाथ आदि कर्मेन्द्रियोंके गोलक कहिये रहनेके स्थानको व्यापार रहित करके जिसप्रकार इन्द्रियोंका हठसे निरोध किया जा सकता है तिसप्रकार मनके गोलकका हठसे निरोध करके मैं मनका भी हठसे निरोध करलूँगा, ऐसा भ्रम मूढ़ पुरुषोंको होजाता है । परन्तु मनका हठनिग्रह नहीं होसकता, क्योंकि जैसे नेत्रोंको मूँद कर चक्षु इन्द्रियका निरोध किया जासकता है, इसप्रकार मनके गोलक हृदयकमलका निरोध नहीं किया जासकता,

इसलिये मनका क्रमसे ही निग्रह करना चाहिये। क्रमनिग्रहके लिये अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति आदि उपायोंका वर्णन ऊपर किया है। अध्यात्मविद्या बताती है कि—यह दीखनेवाला दृश्य प्रपञ्च मिथ्या है और द्रष्टा आत्मा स्वयम्प्रकाश है। इसलिये यह मन, जिनको अध्यात्मविद्याके द्वारा मिथ्यारूपसे निश्चय करलिया है, उन अपने विषयोंमें जानेका तो प्रयोजन नहीं समझता और जिसमें जानेकी आवश्यकता है उस द्रष्टारूप वस्तुको अपना विषय नहीं करसकता इसलिये यह मन इस दशामें ईंधन न पानेवाले अग्निकी समान आप से आप ही शान्त होजाता है। ऐसा ही कहा भी है-

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥

जैसे ईंधन न पानेवाला अग्नि अपने कारणमें शांत होजाता है, ऐसे ही वृत्तिका क्षय होजाने पर चित्त शांत होकर आत्मामें लय होजाता है। परन्तु जो जड़मति होनेके कारण आत्मतत्त्वका बोध कराने पर भी उसको समझ नहीं सकता है और यदि ग्रहण भी कर लेता है तो उसको तुरन्त भूलजाता है। ऐसे मनुष्यके मनोनिग्रह के लिये सत्पुरुषोंका समागम ही उपाय है, क्योंकि-दयावान् सत्पुरुष ऐसे मनुष्योंको बारम्बार उपदेश दिया करते हैं और आत्माका स्मरण दिलाया करते हैं जो पुरुष विद्यामद, धनमद आदि खोटी वासनाओंसे पीड़ित होने पर सत्पुरुषोंकी शरणमें जाकर प्रणाम शुश्रूषा आदि उपायोंसे उनको प्रसन्न नहीं कर सकते, उनके लिये पीछे कहा हुआ विवेकके द्वारा वासनाका त्यागरूप उपाय है। जिस की वासनायें अतिप्रबल होती हैं और जो उनको त्याग नहीं सकता उसके लिये प्राणवायुका निरोध रूप उपाय है। प्राणकी गति और वासनायें चित्तको प्रेरणा करती हैं, इस लिये इन दोनोंका निरोध करनेसे चित्त शान्ति पाता है। इनका प्रेरक होना वशिष्ठजीने भी कहा है—

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढवासना॥
सती सर्वगता संवित् प्राणस्पन्देन क्षोभ्यते।
सम्वेदनादनन्तानि ततो दुःखानि चेतसः॥

अपनेमेंसे निकलनेवाली वृत्तिरूप लताओंको धारण करनेवाले चित्त नामक वृक्षके दो बीज हैं-एक प्राणकी गति और दूसरा दृढ़ वासना। चित्तके उपादान कारणरूप अविद्यासे आच्छादित सर्वगत चैतन्य प्राणके वेगसे प्रकट होता है। उसके प्रकट होने पर चित्तमेंसे दुःख उपजते हैं अर्थात् जैसे राखसे ढकेहुए अग्निको लुहार धौंकनी से धौंकता है तब धौंकनीमेंसे उत्पन्न हुए वायुसे अग्निमेंसे ज्वालायें उत्पन्न होती हैं। ऐसे ही काठकी समान चित्तके उपादान कारणरूप अज्ञानसे आच्छादित चैतन्य प्राण वायुसे प्रकट होकर चित्तकी वृत्तिरूपसे प्रज्वलित हो उठता है। उस चित्तकी वृत्ति नामक संवित् (अज्ञानसे आच्छन्न चैतन्य)की ज्वालारूप ज्ञानसे अनेकों दुःख उत्पन्न होजाते हैं। इसप्रकार प्राणकी गतिसे प्रेरित चित्तकी उत्पत्ति कही अब वासनाजन्यचित्तकी उत्पत्तिको वशिष्ठजी कहते हैं—

> भावसंवित्प्रकटितामनुभूतांश्च राघव।
> चित्तस्योत्पत्तिमपरां वासनाजनितां शृणु॥
> दृढाभ्यस्तपदार्थैकभावनादतिचञ्चलम्।
> चित्तं सञ्जायते जन्मजरामरणकारणम्॥

हे राम! पदार्थके ज्ञानसे प्रकट हुई और अनुभवमें आयी हुई चित्तकी वासनासे होनेवाली दूसरी उत्पत्तिको सुनो। दृढ़ताके साथ सेवन कियेहुए विषयकी वासनासे जन्म, जरा और मरणका कारण अति चञ्चल चित्त उत्पन्न होता है।

केवल प्राण और वासना चित्तको ही प्रेरणा करनेवाले नहीं हैं, किन्तु ये दोनों परस्परमें एक दूसरेको प्रेरणा करनेवाले भी हैं। यही वशिष्ठजीने कहा है-

> वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना।
> क्रियते चित्तबीजस्य तेन बीजांकुरक्रमः॥

प्राणकी गति वासनाके वशमें है और प्राणकी गतिसे वासना फुरती है। इस प्रकार चित्तके बीजरूप वासना और प्राणके व्यापार का बीज और अंकुरकेसा क्रम है। इसलिये दोनोंका नाश होजाता है, ऐसा वशिष्ठजी कहते हैं—

> द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
> एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥

गतिवाला प्राण और वासना ये दोनों चित्तरूप वृक्षके बीज हैं, इन

दोनोंमेंसे किसी एकका क्षय होते ही दोनोंका क्षय होजाता है इन दोनोंके नाशका उपाय और नाशका फल वशिष्ठजीने कहा है—

प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥
असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्त्तते ॥
वासनासम्परित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ।
यद्भावनं वस्तुनोन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥
यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥

प्राणायामके दृढ़ अभ्याससे, गुरुकी बतायी हुई युक्तिसे आसनको जीतनेसे और नियमित भोजन करनेसे प्राणकी गति रोकीजासकती है । निःसङ्ग व्यवहारसे, जगत्‌मेंसे ममताकी बुद्धिको त्यागनेसे तथा शरीरके नाशवान्‌पनेका बार२ स्मरण करनेसे खोटी वासनायें नहीं फुरती हैं । वासनाके त्यागसे और प्राणकी गतिके निरोधसे चित्त अचित्त होजाता है, इसलिये हे राम ! इन दोनोंमेंसे जिस उपायको जी चाहे उसको कर । किसी भी पदार्थको सत्य मान कर उसको रागसे सेवन करना, यही चित्तका स्वरूप है,ऐसा मैं मानता हूँ, यह वस्तु तो सुखकी हेतु है इसकारण यह तो सेवन करनी ही चाहिये और यह वस्तु तो सुखकी हेतु नहीं है, इसकारण यह ग्रहण नहीं करनी चाहिये इसप्रकार जिस समय किसी भी पदार्थमें ग्राह्य अग्राह्यकी भावना नहीं होती है, इसलिये ही जिस समय सब अनात्म वस्तुओंको त्यागकर रह सकता है उस समय चित्तका उदय नहीं होता है । चित्तके वासनारहित होनेसे जिस समय सङ्कल्प विकल्प नहीं करता है, उस समय अमनस्कपनेका उदय होता है, कि-जो परमशान्तिका दाता है । जबतक मनका अमनभाव नहीं होता तब तक शांति नहीं होती ऐसा वशिष्ठजी कहते हैं—

चित्तपन्नङ्गाक्रान्तं न मित्राणि न बान्धवाः ।
शक्नुवन्ति परित्रातुं गुरवो न च मानवाः ॥

जिसको चित्तरूप सर्पने अत्यन्त वशमें करलिया है, उस पुरुषकी रक्षा मित्र, भाई बन्धु, माता पिता आदि गुरुजन तथा अन्य मनुष्य भी नहीं कर सकते। ऊपर कहागया है कि—आसनको जीतना और नियमित भोजन प्राणको जीतनेके कारण हैं, उसमें आसन-लक्षण तथा उसका उपाय भगवान् पतञ्जलिने तीन सूत्रोंमें कहा है-

स्थिरसुखमासनम् ।
प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।
ततो द्वन्द्वानभिघातः ।

जिस प्रकार बैठनेसे कर चरणादि अवयवोंमें व्यथा न उत्पन्न होनारूप सुख होय और शरीर स्थिर रहे तो वह उसका मुख्य आसन है १ लौकिक कार्योंके लिये प्रयत्नकी शिथिलता तथा शेषकी धारणासे आसन का जय सिद्ध होता है २ इसलिये पहलेकी समान सर्दी गरमी हर्ष शोक और मान अपमान आदि द्वन्द्व पीड़ा नहीं देते हैं।

शरीरको स्थापन करनेवाले पद्मस्वस्तिक आदि जैसे आसनसे जिस पुरुषके अवयवोंमें व्यथा न होनारूप सुख होता है तथा देहका अचलपना रूप स्थिरता प्राप्त होती है उस पुरुषका वह मुख्य आसन समझो। इस आसनके स्थिर होनेका लौकिक उपाय है-व्यावहारिक कामोंमें प्रयत्न रहित होजाना। चलना फिरना, घरके काम काज, तीर्थयात्रा, स्नान, योग और होम आदिके विषयका जो प्रयत्न अर्थात् चित्तका उत्साह उसको शिथिल कर देना चाहिये। यदि व्यवहारके कामोंमें उत्साहरहित नहीं होगा तो वह उत्साह उसको जोरावरी उठाकर चाहे तिस काममें लगा देगा। शेषनाग जो अपने सहस्र फणोंसे पृथ्वीको धारण करके स्थिर रहते हैं वह शेष भगवान् मैं हूँ ऐसा ध्यान करना आसनजयका अलौकिक उपाय है । इस उपाय को करनेसे आसनको स्थिर करनेवाला जीवका अदृष्ट उत्पन्न होता है। आसन सिद्ध होजानेसे सरदी गरमी, सुख दुःख, मान अपमान आदि द्वन्द्वोंसे आसनको जीत लेनेवाला पुरुष पहलेकीसी पीड़ा नहीं पाता है। ऐसे आसनके लिये भगवती श्रुति योग्यस्थान बताती है-

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।

समे शुचौ शर्करवह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाशयादिभिः
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडते गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्

एकसार, पवित्र, कङ्कड़ी अग्नि और वालुकासे रहित, कोलाहल और कलकल शब्दवाले जलाशयसे रहित, मनके अनुकूल और भुन-गोंसे रहित ऐसे निर्जन गुहा आदि निर्वात स्थानमें सुखासनसे बैठ कर जिसने गरदन, शिर और शरीरको सीधा रक्खा है ऐसा पवित्र पुरुष योगका आरम्भ करे। इस प्रकार आसन योगको कहा, अब अशनयोग अर्थात् आहारके विषयमें नियम बताते हैं।

अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्।

अधिक भोजन और उपवासको योगी त्याग देय। ऐसा शास्त्रका वचन है। भगवान्ने भी कहा है-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अधिक भोजन करनेवालेका योग सिद्ध नहीं होता है तथा भोजन न करनेवालेका भी योग सिद्ध नहीं होता है। अधिक सोनेके अभ्यासीका योग सिद्ध नहीं होता है तथा सर्वथा न सोनेवालेका भी योग सिद्ध नहीं होता है, किन्तु जिसका आहार विहार नियमके साथ है लौकिक व्यवहारमें भी जिसकी चेष्टा नियमके साथ होती है तथा जिसका जागना और सोना भी जितना चाहिये उतना ही होता है उस पुरुषका योग दुःखको दूर करनेवाला होता है।

जिसने आसनको जीत लिया है, उसके मनका नाश प्राणायामसे होजाता है, ऐसा श्वेताश्वतर शाखाको पढ़नेवाले कहते हैं-

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि
प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥

जिसमें हृदय, गरदन और मस्तक ऊँचे रहैं ऐसे शरीरको समान रख कर, मनसहित इन्द्रियोंको हृदयमें रोक कर विद्वान् पुरुष प्रणव रूप नौकाके द्वारा संसाररूप नदीके भय देनेवाले सब प्रवाहोंके

पार होजाय। वह उचित चेष्टावाला पुरुष, प्राणायामके द्वारा प्राण को क्षीण करडालने पर धीरे २ नासिकासे प्राणको छोड़े। दुष्ट घोड़ों वाले सारथीकी समान विद्वान् पुरुष सावधानतासे मनको वशमें करे।

योगी दो प्रकारका होता है-एक विद्यामद आदि आसुरी संपत्तियों से रहित और दूसरा आसुरी सम्पत्तियोंसे युक्त। इनमें पहला आसुरी सम्पत्तियोंसे रहित योगी जब ब्रह्मके ध्यानसे मनका निरोध करलेता है तब उसके प्राणका निरोध आपसे आप होजाता है, क्यों कि-मन और प्राण सदा साथ ही रहते हैं। इसप्रकार योगी के विषयमें यह 'त्रिरुन्नतम्' इत्यादि मंत्र पढ़ा है। तथा दूसरा जो आसुरी सम्पत्तिवाला योगी है उससे पहले मनका निरोध नहीं हो सकता, इसलिये जब वह प्राणायाम के अभ्याससे प्राणका निरोध करता है तब उसका मन अपने आप निरोध पाजाता है। इस योगी के विषयमें 'प्राणान्प्रपीड्य' इत्यादि मंत्र पढ़ा है। प्राणायामकी रीति आगे चलकर कहेंगे। प्राणायामसे अधिकारीके शरीर इन्द्रियादिका व्यापार नियममें आजाता है। विद्यामद आदि मनका व्यापार भी शान्त होजाता है। प्राणके निरोधसे चित्तके दोषोंका निरोध होनेमें श्रुतिमें दृष्टान्त भी कहा है-

> यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते दहनान्मलाः।
> तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्॥

जैसे पहाड़मेंसे निकली हुई सुवर्ण आदि धातुओंको तपाने से उनका मल जलजाता है, ऐसे ही प्राणका निग्रह करनेसे इन्द्रियोंके और मनके दोष भस्म होजाते हैं। प्राणके निरोधसे मनका निरोध होनेमें वशिष्ठजीने नीचे लिखी युक्ति दिखायी है-

> यः प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्दः स एव हि।
> प्राणस्पन्दक्षये यत्नः कर्त्तव्यो धीमतोच्चकैः॥

जो प्राणवायुका स्पन्दरूप व्यापार है वही मनका व्यापार है, इस लिये बुद्धिमान् पुरुषको प्राणवायुके निरोधके लिये बड़ा भारी यत्न करना चाहिये।

मन, वाणी तथा चक्षु, आदि इंद्रियोंके देवता 'हम अपने २ व्यापारको निरन्तर करेंगे' ऐसा व्रत धारण करके अन्तमें वे परिश्रम-रूप मृत्युके वशमें होगये अर्थात् श्रमके कारण उनका व्यापार बन्द

होगया परंतु वह भ्रमरूप मृत्यु प्राणके पास नहीं पहुँचसका, इस कारण प्राणवायु निरन्तर श्वास निःश्वासरूप व्यापार करने पर भी थका नहीं, तब चक्षु आदिके देवताओंने विचार करके प्राणमें प्रवेश किया। यह बात बृहदारण्यक उपनिषद्में कही है-

अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथते.
यो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। एतस्यैव
सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेव एतेनाख्यायन्ते प्राणाः।

मन तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंने विचार किया, कि-यह प्राण हम सबोंमें श्रेष्ठ है, जो श्वास निःश्वासरूप व्यापार करने पर भी व्यथा नहीं पाता है तथा नष्ट भी नहीं होता है, इसलिये हम सब इस प्राण का ही रूप होजायँ, ऐसा विचार कर वे सब प्राणरूप होगये, इस कारण मन इंद्रियादि सब प्राण ही कहलाते हैं। प्राणके अधीन अपना व्यापार होनेके कारण इंद्रियें प्राण कहलाती हैं। यह बात अन्तर्यामी ब्राह्मणमें सूत्रात्माके प्रसङ्गसे कही है-

वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतमसूत्रेणायञ्च लोकः
परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति ॥
तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति।
वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवंति ॥

हे गौतम! वायु सूत्र है, वायुरूप सूत्रसे यह लोक, परलोक तथा सब प्राणी बँधेहुए हैं, इसलिये ही (प्राण जानेके अनन्तर) इसके अङ्ग शिथिल होगये ऐसा मरेहुए प्राणीके विषयोंमें कहते हैं। हे गौतम! वायुसे ही शरीरके अङ्ग परस्पर गठेहुए रहते हैं। प्राण और मनकी गति सदा साथ ही रहती है, इसलिये प्राणका निग्रह करनेसे मनका निग्रह होजाता है।

(शङ्का)-मन और प्राणकी साथ २ गति नहीं होसकती, क्यों-कि-सुषुप्ति अवस्थामें प्राणकी गति होते हुए भी मनका व्यापार देखनेमें नहीं आता।

(समाधान)-सुषुप्ति अवस्थामें तो मनका लय होजाता है, इस कारण मन होता ही नहीं, फिर यह शङ्का कैसे होसकती है? कदापि नहीं होसकती।

(शङ्का)-"क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत" अर्थात् प्राण क्षीण होजाने पर नासिकाके द्वारा श्वास लेय। यह परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि-मरेहुए मनुष्यका प्राण क्षयको प्राप्त होता है, परन्तु उसका श्वास तो कभी देखनेमें नहीं आता तथा जीवित मनुष्य जो श्वास लेता है उसके प्राणका क्षय नहीं होता है,इसलिये ऊपरके श्रुतिवाक्य में परस्पर विरोध प्रतीत होता है।

(समाधान)-यहां प्राणक्षयका अर्थ है—वेगकी अत्यन्त मन्दता होजाना। जैसे भूमि खोदनेमें अथवा काठ आदिको फाड़नेमें लगे हुए मनुष्यका श्वास जितना वेगवान् होजाता है तथा पहाड़ पर चढ़नेवाले या वेगसे दौड़नेवाले मनुष्यका श्वास जितना वेगवान् होजाता है, खड़ेहुए अथवा बैठेहुए मनुष्यका श्वास उतना वेगवान् नहीं होता है, तथा प्राणायाममें प्रवीण हुए पुरुषका श्वास इससे भी कम वेगवाला होता है। इस ही अभिप्रायको लेकर भगवती श्रुति कहती है, कि-

भूत्वा तत्रायतप्राणः शनैरेव समुच्छ्वसेत्।

जैसे दुष्ट घोड़ोंसे जुता हुआ रथ मार्ग छोड़कर चाहे जिधरको खिंचजाता है, परन्तु सारथी लगामके द्वारा उन घोड़ोंको बलात्कार से खेंचकर रथको फिर मार्गमेंको ही ले आता है। इसप्रकार ही इंद्रियें वासना आदिके द्वारा मनको चाहे तिस विषयमेंको खेंचकर लेजाती हैं, परन्तु यदि प्राणरूप लगाम खेंच रक्खी हो तो वह मन किसी भी विषयमेंको नहीं जा सकता। प्राणायामकी रीति अन्यत्र भी कही है।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः।
उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकं॥
शून्यभावेन युञ्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम्।
वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः॥
एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम्।
नोच्छ्वसेन्न च निःश्वासेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवं तावन्नियुञ्जीत कुम्भकस्येति लक्षणम्॥

प्राणका निग्रह करके व्याहृति, सहित प्रणवसहित तथा शिरो-भाग सहित गायत्रीको तीन बार पढ़े, यह प्राणायाम कहलाता है। पूरक कुम्भक और रेचक तीन प्रकारका प्राणायाम कहलाता है। शरीरमेंके वायुको बाहर निकालनेके लिये, वायुको ऊँचा चढ़ाकर शरीरमेंके आकाशको वायुरहित करके, उस वायुको फिर शरीरके भीतर न जाने देकर शरीरको यथाशक्ति वायुरहित रखना, इस का नाम रेचक प्राणायाम कहा है। जैसे कोई कमलकी नालका सिरा जलमें रख कर और उसका दूसरा सिरा मुखमें रख कर जल को खेंचता है, ऐसे ही नासिकाके छेदसे बाहरके वायुको भीतरको खेंचे तो इसका नाम पूरक प्राणायाम होता है। श्वास निःश्वास न लेकर तथा शरीरके अवयवोंको न हिलाकर वायुको रोके रहना कुंभक प्राणायाम कहलाता है कुम्भक दो प्रकारका है-भीतरी कुंभक और बाहरी कुम्भक। इन दोनोंके विषयमें वशिष्ठजी कहते हैं कि-

अपानेस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते॥
बहिरस्तङ्गते प्राणे यावन्नापानउद्गवः।
तावत्पूर्णां समावस्था बहिःस्थं कुम्भकं विदुः॥

अपान वायुके शान्त होजाने पर जबतक हृदयदेशमें प्राणवायुका उदय नहीं होता है तबतक भीतरी (आन्तर) कुम्भक अवस्था कहलाती है, इस अवस्थाका अनुभव योगी पुरुषोंको होता है। बाहरी देशमें प्राणवायुके शान्त होजाने पर जबतक अपानका उदय नहीं होता है तबतक पूर्ण तथा सम अर्थात् निःश्वास उच्छ्वासरूप व्यापार रहितप्राणकी अवस्था है, इसको बाहरी (बाह्य) कुम्भक कहते हैं।

उच्छ्वास आन्तर कुंभकका विरोधी है, निःश्वास बाह्य कुंभक का विरोधी है और शरीरका हिलना दोनों कुम्भकोंका विरोधी है, है क्योंकि--यदि शरीर हिलता रहे तो निःश्वास और उच्छ्वास इन दोनोंमेंसे कोई एक हुए विना न रहे। भगवान् पतञ्जलिने भी आसनजय होनेके अनन्तर अवश्य करनेयोग्य प्राणायामका निरूपण सूत्रसे किया है।

तस्मिन्सति निःश्वासोच्छ्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥

आसनका जय होजाने पर निःश्वास और उच्छ्वासकी गतिके विच्छेदको प्राणायाम कहते हैं ।

(शङ्का)-यद्यपि कुंभकमें प्राणकी गति नहीं है, परन्तु रेचक पूरकमें तो प्राणकी गति है, इसलिये रेचक और पूरकको प्राणायाम नामसे कैसे कहा जा सकता है ?

(समाधान)-अधिक मात्राओंसे अभ्यास करने पर जो प्राणकी स्वाभाविक गति होती है उसका वेग कम होजाता है । इस अभ्यास को भगवान् पतञ्जलिने अपने सूत्रमें कहा है-

> बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घः सूक्ष्मः ।

बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति यह तीन प्रकारका प्राणायाम देश, काल और मात्राकी संख्यासे दीर्घ तथा सूक्ष्म प्रतीत होता है ।

बाह्यवृत्ति प्राणायामको रेचक कहते हैं । आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायामको पूरक कहते हैं और स्तम्भवृत्ति प्राणायामको कुम्भक कहते हैं । इनमेंसे हरएक प्राणायामकी ठीक २ सिद्धिके लिये देश, काल और मात्रासे परीक्षा करनी चाहिये । वह इसप्रकार कि-जब मनुष्य को विना ही अभ्यासके स्वाभाविक रेचक होता है उस समय प्राणवायु हृदयमेंसे उठकर नासिका के छिद्रमेंको बाहर निकल उस छिद्रसे बारह अँगुलकी दूरी पर शान्त होजाता है और अभ्याससे तो क्रमशः प्राण नाभिसे अथवा मूलाधारसे उदय होकर नासिकासे बाहर सामनेके स्थानमें नासिकासे चौबीस अँगुल वा छत्तीस अंगुलतक जाकर तहां शान्त होजाता है । रेचक प्राणायाम में अधिक यत्न होता है तब भीतर नाभि आदि स्थानके क्षोभसे उस २ स्थानका प्राण उठता है, ऐसा निश्चय किया जा सकता है । और बाहर नासिकासे २४ अथवा ३६ अंगुल दूर धरेहुए धुनी रुईके हलके फोहेके हिलनेसे निश्चय होजाता है कि-यहां आकर पवन समाप्त होजाता है । इसको देशपरीक्षा कहते हैं । रेचकके समय प्रणवकी दश आवृत्ति हुई बीस आवृत्ति हुई, तीस आवृत्ति हुई इत्यादि क्रमसे कालकी परीक्षा करके फिर ऐसे रेचक इस महीनेमें प्रति दिन दश हुए, उससे अगले महीनेमें वीस हुए उससे आगेके महीने तीस हुए इत्यादि क्रमसे संख्याकी परीक्षा करे । पूरकमें भी इसप्रकार ही परीक्षा कर लेय । यद्यपि कुम्भकमें देशपरीक्षा नहीं होसकती तथापि

कालपरीक्षा तथा संख्यापरीक्षा होसकती है जिस प्रकार एक रुई के मोटे गालेको कात कर तार निकालने पर वही रुई बहुत लम्बी और सूक्ष्म होजाती है, ऐसे ही प्राणका भी अधिक देश और अधिक संख्यासे अभ्यास करने पर वह लम्बा और ऐसा सूक्ष्म होजाता है, कि लक्षमें ही नहीं आता। रेचक आदि तीन प्रकारके प्राणायामों से अन्य प्रकारका प्राणायाम भी भगवान् पतञ्जलिने अपने सूत्रमें कहा है—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

रेचक पूरकके विषयको छोड़कर किया जानेवाला एक चौथा प्राणायाम होता है। यथाशक्ति कोष्ठमें सब वायुको नासिकाके छेद मेंको बाहर निकाल कर जो कुम्भक किया जाता है वह बहिःकुम्भक कहलाता है, यथाशक्ति वायुको शरीरमें भरलेने पर जो कुम्भक किया जाता है वह अन्तःकुम्भक कहलाता है। इन दोनोंका अनादर करके केवल कुम्भकका अभ्यास कियाजाता है यह पहले कहे हुए तीन प्राणायामोंसे विलक्षण एक चौथा प्राणायाम होता है। जिस पुरुषमें निद्रा तंद्रा आदि दोषोंकी अधिकता हो वह पहिले कहे हुए रेचक आदि तीन प्राणायामोंका अभ्यास करे। तथा जिसके उन दोषोंकी प्रबलता न हो वह केवल कुम्भकका अभ्यास करे प्राणायामका फल भगवान् पतञ्जलि कहते हैं-

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

प्राणायामके अभ्याससे बुद्धिसत्त्वको ढकनेवाले तमोगुणका कि जो निद्रा आलस्य आदि दोषोंका कारण है, क्षय होजाता है, तथा-

धारणासु योग्यता मनसः।

धारणाके अभ्याससे मनमें योग्यता आजाती है।

मूलाधार, नाभि, हृदय, भौंका मध्य और ब्रह्मरन्ध्र आदि देशमें चित्तको लाकर स्थिर करना इसका नाम धारणा है। पतञ्जलि कहते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

नाभिचक्र आदि देशमें चित्तको स्थिर करना धारणा कहलाता है। श्रुति भी कहती है-

मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा सा प्रकीर्तिता॥

बुद्धिमान् पुरुष सङ्कल्प विकल्पवाले मनको एकाग्रकरके आत्मामें स्थापन करें फिर उस आत्माको जिस वृत्तिसे धारण किया जाता है उसको धारणा कहते हैं।

प्राणायामके द्वारा, रजोगुणकी बढ़ीहुई चञ्चलतासे और तमोगुण के उत्पन्न हुए आलस्य आदि दोषोंसे छुटायाहुआ मन धारणा करने की योग्यता पाजाता है। "प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया" इस श्लोकमें युक्तिपदसे शिरःरूप मेरुदण्डका चालन जिह्वाके अग्रभागसे घण्टिकाका भ्रामण अर्थात् तालुमें गौके स्तनकी समान जो एक मांसका अंकुर लटकता है उसको जिह्वाके अग्रभागसे घुमाना नाभिचक्रमें ज्योतिका ध्यान करना, देहाभिमानको विस्मरण करादेनेवाली औषधोंका सेवन करना, इत्यादि योगियोंमें प्रसिद्ध-युक्तियें लीजाती हैं। इसप्रकार अध्यात्मविद्या, साधुसमागम, वासनात्याग और प्राणायाम ये चित्तनाशके उपाय दिखाये। अब मनोनाश के उपाय समाधिको कहेंगे। चित्त कि—जिसकी पांच भूमिका या अवस्था हैं उनमेंसे पहली तीन भूमिकाओंको छोड़कर अन्तकी दो भूमिकायें समाधि कहलाती हैं। चित्तकी भूमिकायें योगदर्शनके भाष्यकार व्यास भगवान्ने दिखायी हैं—

क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये चित्तकी भूमिकायें हैं। इनमें आसुरी सम्पत्ति, लोकवासना, शास्त्रवासना तथा देहवासनायें प्रवृत्तिवाला चित्त क्षिप्त कहलाता है। निद्रा, तन्द्रा, आदि दोषोंके वशमें हुआ चित्त मूढ कहलाता है। किसी समय ध्यानमें भी लग जानेवाला चित्त क्षिप्तसे श्रेष्ठ होनेके कारण विक्षिप्त कहलाता है। इनमें चित्तकी क्षिप्त तथा मूढ अवस्थामें तो समाधिकी शङ्का भी नहीं होती। विक्षिप्त अवस्थामें विक्षेप अधिक और समाधि गौण होती है, इस कारण अग्निमें पड़े हुए बीजकी समान तत्काल नष्ट होजाती है। चित्तके एकाग्र होजाने पर जो समाधि, सत्यवस्तु आत्माका प्रकाश करती है, क्लेशका नाश करती है, कर्मरूप बन्धनको ढीला करती है तथा निरोधको सन्मुख कर देती है वह समाधि संप्रज्ञात योग कहलाती है। सब वृत्तियोंका निरोध असंप्रज्ञात समाधि कहलाती है। तहां संप्रज्ञात समाधिकी भूमिकारूप एकाग्रताको भगवान् पतञ्जलि सूत्रमें कहते हैं—

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ।

शान्तहुई वृत्ति तथा तदनन्तर तुरन्त ही उदय हुई वृत्ति एक ही विषयको ग्रहण करे तब वह चित्तका एकाग्रतारूप परिणाम कहलाता है । अर्थात् पहले उठी हुई वृत्ति जिस पदार्थको ग्रहण करती है, उस ही पदार्थको उस प्रथमकी वृत्तिके शान्त होजाने पर तुरन्त उठीहुई वृत्ति यदि ग्रहण करे तो वह भूतवृत्ति तथा वर्तमानवृत्ति तुल्य विषयक गिनीजाती है । एकाग्रताकी वृद्धिरूप समाधिको भगवान् पतञ्जलि कहते हैं-

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ।

चित्तके सर्वार्थता धर्मका तिरोभाव और एकाग्रता धर्मका प्रादुर्भाव समाधिपरिणाम कहलाता है ।

रजोगुणसे चञ्चल हुआ चित्त क्रमशः सब पदार्थोंको ग्रहण करता है, इस रजोगुणके निरोधके लिये योगिजनोंके किये हुए प्रयत्नसे वृत्ति प्रतिदिन सब विषयोंको ग्रहण करनेसे रुकने लगती है और उसकी एकाग्रताका उदय होने लगता है, इस प्रकारका चित्तका परिणाम समाधि कहलाता है । इस समाधिके आठ अङ्गोंमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार ये पांच समाधिके बाहरी अङ्ग कहलाते हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि ये अन्तरङ्ग कहलाते हैं । तहां यमोंको सूत्रमें कहते हैं ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (दूसरेके धनकी इच्छा न करना) ब्रह्मचर्य (उपस्थ इन्द्रियका संयम) और अपरिग्रह (शरीरके निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तुके सिवाय अधिक पदार्थकी अपेक्षा न करना). ये पांच यम हैं । हिंसा आदि निषिद्ध कामोंसे योगियोंको रोकते हैं इसलिये उनको यम कहते हैं । नियमोंको बतानेवाला सूत्र यह है-

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

शौच (पवित्रता) सन्तोष, तप, स्वाध्याय (प्रणव आदिका जप तथा अध्यात्मशास्त्रका पढ़ना) और ईश्वरभक्ति ये नियम हैं । जन्म देनेवाले काम्य कर्मोंसे हटा कर योगीको निष्काम धर्ममें लगाते हैं इसलिये शौच आदि नियम कहलाते हैं । यम तथा नियमोंके अनुष्ठानकी विलक्षणता स्मृतिमें कही है-

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

चतुर निरन्तर यमोंका सेवन करे, सदा यमोंके सेवनकी समान नियमोंके सेवनकी आवश्यकता नहीं है,क्योंकि-जो यमोंका सेवन न करके केवल नियमोंका ही सेवन करता है वह योगमार्गसे गिरजाता है

पतति नियमवान् यमेष्वसक्तो न तु यमवान्नि-
यमालसोऽवसीदेत् । इति यमनियमौ समीक्ष्य
बुद्ध्या यमबहुलेष्वनुसंदधीत बुद्धिम् ॥

यमोंके अनुरागको त्यागकर केवल नियमोंका ही सेवन करनेवाला पुरुष योगमार्गसे भ्रष्ट होजाता है और जो विधिके साथ यमोंका सेवन करता है, परन्तु नियमोंके सेवनमें आलस्य करता है वह दुःख नहीं पाता है अर्थात् योगमार्गसे पतित नहीं होता है, इसप्रकार यम और नियमोंका बुद्धिसे विचार करके यमोंका पालन करनेमें बुद्धिको विशेषरूपसे लगावे । यम और नियमोंका फल दिखानेवाले भगवान् पतञ्जलिके ये सूत्र हैं—

तत्सन्निधौ वैरत्यागः क्रियाफलाश्रयित्वम् । रत्नोपस्था-नम् । वीर्यलाभः जननादिभयाभावः । जन्मकथन्तासं-बोधः । शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः सत्त्वशुद्धिः सौ-मनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च संभवन्ति । सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः । कायेन्द्रियबुद्धिशुद्धिरशुद्धि-क्षयात्तपसः । स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः समाधिसि-द्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

अहिंसाकी भावना दृढ होजानेसे उस अहिंसक योगीके समीप रहनेवाले सांप नोले चूहे बिलाव आदि आपसमें विरोध रखनेवाले प्राणियोंका भी वैरभाव छूटजाता है । सत्यकी सिद्धि होनेपर केवल वाणीसे दूसरेको क्रिया और उसका फल देनेकी शक्ति आजाती है । अस्तेयकी सिद्धि होजाने पर योगीको इच्छा न होने पर भी सकल रत्नोंकी प्राप्ति होजाती है । ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होजाने पर निरतिशय (परम) सामर्थ्यका अथवा जन्म आदिके भयके अभावका लाभ होता है । अपरिग्रहकी वृत्ति स्थिर होजाने पर योगी भूत भविष्यत् और वर्त्तमान जन्मका वृत्तान्त जान सकता है । बाहरी शौचके अ-भ्याससे अपने शरीरमें ग्लानि उत्पन्न होती है तथा दूसरेका संसर्ग करनेकी इच्छा नहीं होती है, भीतरी शौचसे सत्त्वशुद्धि, मनकी प्रसन्नता, मनकी एकाग्रता, इन्द्रियोंका जय और आत्मदर्शनकी योग्यता होती है । सन्तोषसे सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है । तपसे

अशुद्धिका क्षय होजाने पर अणिमा आदि शरीरकी सिद्धियें तथा दूरकी बात सुनना, दूरकी वस्तुको देखलेना आदि इंद्रियोंकी सिद्धियें प्राप्त होती हैं। इष्टमन्त्र आदिके जपरूप स्वाध्यायसे इष्ट देवताका दर्शन और उसके साथ संभाषण आदि होसकता है। सब कर्म ईश्वर को अर्पण करजाकर भक्तिसे समाधिकी सिद्धि होती है।

आसन और प्राणायाम इन दो अङ्गोंका निरूपण पहले किया जा चुका है। प्रत्याहारके विषयमें यह सूत्र है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच विषयोंसे विमुख की हुई श्रोत्र आदि इंद्रियें चित्तके स्वरूपका अनुकरण करती हुईसी हों तो वह प्रत्याहार कहलाता है। श्रुति भी कहती है—

शब्दादिविषयान् पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते॥

शब्द आदि पांच जिनके विषय हैं ऐसी श्रोत्र आदि पांच इंद्रियों को तथा अतिचपल मनको उनके अपने २ विषयसे हटाकर उनको आत्माकी किरणें मानकर चिन्तवन करना प्रत्याहार कहलाता है।

प्रत्याहारका फल सूत्रमें इसप्रकार कहा है—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

प्रत्याहारसे इंद्रियें परम वशमें होजाती हैं। धारणा, ध्यान और समाधिके विषयमें नीचे लिखे तीन सूत्र हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

चित्तको मूलाधार आदि देशमें स्थिर करलेना धारणा कहलाता है। वृत्तिका किसी एक तत्त्वमें जो प्रवाह वह ध्यान कहलाता है। यह ध्यान जब ध्येयके (जिसका ध्यान किया जाय उसके) आकार का होकर अपने स्वरूपसे रहितसा होजाता है तो उसको समाधि कहते हैं।

धारणा आदिके–भौंका मध्यभाग, नासिकाका अग्रभाग और मूलाधार आदि बाहरके तथा भीतरके स्थान पहले बताये जाचुके हैं, उनके सिवाय अन्य स्थानोंको श्रुति कहती है—

मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा सा प्रकीर्त्तिता॥

अनेकों वस्तुओंके सङ्कल्प करनेवाला मन केवल आत्माका ही चिन्तवन करे और किसी विषयका चिन्तवन न करे, ऐसे दृढ़ विचार से मनको और विषयोंमें से पीछेको लौटाकर बुद्धिमान् पुरुष जो मनको वारंवार आत्मामें ही जोड़नेका यत्न करता है उसको ही धारणा कहते हैं।

चित्तका तत्वोंमेंको प्रवाह (बहाव) दो प्रकारका होता है-एक तो जो बीचमें विजातीय वृत्तिसे किसी २ समय टूटजानेवाला और दूसरा अविच्छिन्न। विच्छिन्न प्रवाहको ध्यान कहते हैं और अविच्छिन्न अथवा सन्तत प्रवाहको समाधि कहते हैं। इन ध्यान और समाधि दोनोंका वर्णन सर्वानुभव नामवाले योगीने किया है—

> चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते।
> तत्साधनमतो ध्यानं यथावदुपदिश्यते॥
> विलाप्य विकृतिं कृत्स्नां सम्भवव्यत्ययक्रमात्।
> परिशिष्टश्च सन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तयेत्॥
> ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना।
> संप्रज्ञातसमाधिः स्याद् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥

ऊपर कहा हुआ ज्ञान चित्तकी एकाग्रतासे प्राप्त होता है,इसलिये एकाग्रताके साधन ध्यानका यथाविधि उपदेश करते हैं। देह आदि संसारी कार्योंका प्रपञ्च जिस क्रमसे उत्पन्न हुआ है, उससे उलटे क्रमसे कार्यका कारणमें लय करतेरशेष रहे हुए सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्माका चिन्तवन करना ध्यान कहलाता है और अहङ्कार-रहित ब्रह्माकार हुई मनोवृत्तिके प्रवाहको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं यह समाधि ध्यानाभ्यासके परिपाकसे सिद्ध होती है।

इस समाधिका स्वरूप भगवान् शङ्कराचार्यने उपदेशसाहस्री में कहा है—

> दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
> अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त ओम्॥
> दृशिस्तुशुद्धोऽहमविक्रियात्मकोनमेऽस्तिकश्चिद्विषयःस्वभावतः
> पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्चसर्वतःसम्पूर्णभूमात्वजआत्मनिस्थितः
> अजोऽमरश्चैव तथाजरोऽमृतःस्वयम्प्रभः सर्वगतोऽहमद्वयः
> न कारणं कार्यमतीव निर्मलःसदैव तृप्तश्चततो विमुक्त ओम्

जो चैतन्यस्वरूप आकाशकी समान व्यापक है, सबसे श्रेष्ठ है, जन्म मरण रहित है, एक है, अक्षर है, निर्लेप है, सर्व व्यापक तथा भेद रहित है, वह सदा मुक्त ओंकारका लक्ष्यार्थ रूप मैं ही हूँ। मैं विकाररहित शुद्ध चैतन्य हूँ, वास्तवमें कोई भी मेरा विषय नहीं है क्योंकि-मेरे विना तो कोई पदार्थ है ही नहीं। आगे, पीछे, ऊपर, नीचे सर्वत्र मैं पूर्ण व्यापक हूँ तथा अपने अजन्मा स्वरूपमें ही स्थित हूँ। मैं जन्म-मरण-रहित हूँ अक्षर, अमर, स्वयं प्रकाश, सर्वगत तथा द्वैतभावरहित हूँ. कारण कार्यका भेद मुझमें है ही नहीं, मैं अत्यन्त निर्मल, निरवयव व्यापक तथा मुक्त हूँ।

(शङ्का)—संप्रज्ञात समाधि तो अङ्गी है, उसको सातवें अङ्ग ध्यानके पीछे आठवें अङ्गके स्थानमें क्यों गिना है ?

(समाधान)-ध्यान तथा समाधिमें अत्यन्त भेद नहीं है इसलिये ऐसी गिनती की है। जैसे वेदका अध्ययन करनेवाला बालक पग २ पर भूल करने पर भी उसको बार २ सुधारता जाता है, जैसे वेदको पढ़ा हुआ पुरुष सावधानीसे पढ़ता है तो उससे भूल नहीं होती है तथा जैसे वेद पढ़ानेवाला किसी समय ध्यान न देय अथवा आधी नींद (ओंघाओंघी) में होय तो भी उससे वेदके अध्ययनमें भूल नहीं होती है इसप्रकार ही ध्यान, संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि का विषय एक होने पर भी परिपाकमें न्यूनाधिकता होनेके कारण उनमें परस्पर भेद समझ लो। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार ये समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं और शेष धारणा आदि तीन अन्तरङ्ग साधन हैं क्योंकि-ये मनका विषय हैं। योगसूत्रमें भी कहा है।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।

पहले अङ्गोंसे तीन अन्तरङ्ग हैं। इसलिये किसी पुण्यके प्रतापसे प्राप्त हुए गुरुके अनुग्रहसे पहले अन्तरङ्ग साधनकी प्राप्ति होजाय तो फिर बहिरङ्ग साधनोंके लिये अधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। यद्यपि पञ्च महाभूतोंके कार्य, स्थूलपञ्चभूत, शब्द स्पर्श रूप रस तथा गंध ये पांच तन्मात्रायें, इंद्रियें तथा अहङ्कार आदि जिसका विषय हैं ऐसी अनेकों प्रकारकी सविकल्प संप्रज्ञात समाधियोंका वर्णन भगवान् पतंजलिने विस्तारके साथ किया है, परंतु वे समाधियें अन्तर्धान होना आदि सिद्धियोंकी कारण हैं और मुक्तिकी कारण जो समाधि उसकी विरोधिनी हैं, इस कारण हमने यहां ऐसी समाधियोंका वर्णन करना उचित नहीं समझा भगवान् पतञ्जलि भी कहते हैं।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्

दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श आदिका ज्ञानरूप प्रकट हुई सिद्धियें समाधिमें विघ्नरूप हैं और व्युत्थानके समय यही सिद्धिरूप हैं। देवताओंकी प्रार्थनामें राग तथा आश्चर्य न करे क्योंकि ऐसा करनेसे फिर अनिष्ट (बुराई) होजानेका अवसर आजाता है। योगवासिष्ठमें कहा है, कि—इन्द्रादि देवताओंने उद्दालक मुनिको स्वर्गमें आनेके लिये निमन्त्रण दिया था परन्तु मुनिने उसका स्वीकार न करके निर्विकल्प समाधि ही की। श्रीरामजी और वसिष्ठजीके प्रश्नोत्तरसे भी यही सिद्ध होता है। श्रीरामजी प्रश्न करते हैं कि—

जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदां वर ।
शक्तयो नेह दृश्यन्ते आकाशगमनादिकाः ॥

हे आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ! जीवित दशामें ही जिन्होंने अपने शरीरके अभिमानको त्याग दिया है ऐसे जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी पुरुषोंकी आकाशमें फिरना आदि सिद्धियें जगत्में क्यों नहीं दीखतीं?। श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं-

अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
अणिमाद्यष्टसिद्धीनां सिद्धिजालानि वाञ्छति ॥
द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्त्याप्नोत्येव राघव ।
नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक् ॥
आत्मनात्मनि सन्तृप्तो नाविद्यामनुधावति ।
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदुः ॥
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ।
द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्तयः साधुसिद्धिदाः ॥
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ।
सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ॥
स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते ।
न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी ॥
नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव ॥

अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णे चेन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥
चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।
इत्यस्याश्चर्यजातेषु नाभ्युदेति कुतूहलम् ॥
यस्तु वा भावितात्माऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात् ॥

आत्मज्ञानरहित पुरुष मुक्त न होने पर भी आकाशमें विहार करना आदिको तथा अणिमा आदि आठ सिद्धियोंके सिद्धि-जालको चाहता है । मणि औषध आदि पदार्थोंकी शक्तिसे, मंत्रके प्रभावसे योगाभ्यास आदि क्रियाशक्तिसे तथा उसके परिपाकके हेतुरूप कालके बलसे पुरुष, आकाश में विहार करना आदि सिद्धियोंको पाजाता है, परन्तु सिद्धियोंको पा लेना ही आत्मज्ञानीका कर्त्तव्य नहीं है,जो केवल आत्माका साक्षात्कार करता है वही आत्मज्ञानी कहलाता है । स्वयं अपने स्वरूपमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला आत्मज्ञानी पुरुष अविद्याके कामोंकी ओरको नहीं दौड़ता है । जगत्के जो जो पदार्थ हैं उनको तत्त्वज्ञानी पुरुष अविद्याके काम समझते हैं, इसलिये आत्मज्ञानी पुरुष कि-जिसने अविद्याको त्याग दिया है वह जगत्के पदार्थोंमें आसक्ति कैसे करसकता है ? । द्रव्यशक्ति, मंत्र-शक्ति, क्रियाशक्ति और कालशक्ति ये सब उत्तम प्रकारसे सिद्धियें देनेवाली हैं, परन्तु इनमेंसे कोई भी परमात्मपदकी प्राप्तिमें सहायता देनेवाली नहीं है । सब इच्छाओंके शान्त होजानेसे जो आत्माका लाभ होता है वह लाभ क्या सिद्धिकी चाहनामें आसक्त पुरुषको प्राप्त होसकता है ? । जैसे नगरमें रहनेवाली स्त्रीके प्यारे नगरनिवासी पुरुषका मनोरंजन तुच्छ ग्राममें रहनेवाली स्त्रियें नहीं कर सकतीं, ऐसे ही जगत्के कोई भी पदार्थ तत्त्वज्ञानी महात्माका रञ्जन नहीं करसकते । कदाचित् सूर्यनारायणकी किरणें ठण्ठी पड़जायँ,चन्द्र-मण्डल भले ही गरम होजाय तथा चाहे अग्निकी ज्वालाओंका ऊपर को उठना रुकजाय तो भी जीवन्मुक्त पुरुष आश्चर्य नहीं मानता है । परमात्माकी अनेकों शक्तियें इसप्रकार फुरा करती हैं, ऐसा समझ कर उसको आश्चर्य भरे पदार्थोंमें कौतुक नहीं होता है । जो सिद्धि-योंके अभिलाषी पुरुष सिद्धियोंको चाहते हैं वे सिद्धियोंका साधन कर देनेवाले द्रव्योंसे क्रमशः सिद्धियोंको पाते हैं ।

आत्माके विषयकी संप्रज्ञातसमाधि साक्षात्कारकी और निरोध समाधिका हेतु है, इसलिये हमने यहां इस ही समाधिका आदरके साथ वर्णन किया है । अब पांचवीं भूमिका रूप निरोधसमाधिका वर्णन करते हैं । इस समाधिके विषयमें भगवान् पतञ्जलिका यह सूत्र है—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ—
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।

चित्तके व्युत्थान संस्कारका तिरोभाव और निरोधसंस्कारका आविर्भाव होता है तब चित्त बराबर क्षण २ में निरोधकी ओरको ही बढ़ता चलाजाता है । ऐसे चित्तके परिणामको निरोधपरिणाम कहते हैं चित्तके व्युत्थानसंस्कार समाधिमें बाधा डालते हैं । यह बात उद्दालककी समाधिमें (योगवासिष्ठ-उपशम प्रकरणमें) दिखायी है-

कदाऽहं त्यक्तमनने पदे परमपावने ।
चिरं विश्रान्तिमेष्यामि मेरुशृङ्ग इवाम्बुदः ॥
इति चिन्तापरवशो बलादुद्दालको द्विजः ।
पुनः पुनस्तूपविश्य ध्यानाभ्यासं चकार ह ॥
विषयैर्नीयमाने तु चित्ते मर्कटचञ्चले ।
न स लेभे समाधानप्रतिष्ठां प्रीतिदायिनीम् ॥
कदाचिद् बाह्यसंस्पर्शपरित्यागादनन्तरम् ।
तस्यागच्छच्चित्तकपिरान्तरान् स्पर्शसम्भ्रमान् ॥
कदाचिदान्तरस्पर्शाद्बाह्यं विषयमाददे ।
तस्योड्डीय मनो याति कदाचित् प्रस्तपक्षिवत् ॥
कदाचिदुदितार्काभं तेजः पश्यति विस्तृतम् ।
कदाचित्केवलं व्योम कदाचिन्निबिडं तमः ॥
आगच्छतो यथाकामं प्रतिभासान् पुनः पुनः ।
अच्छिनन्मनसा शूरः खड्गेनेव रणे रिपून् ॥
विकल्पौघे समालूने सोऽपश्यद्धृदयाम्बरे ।
तमश्छन्नविवेकार्कं लोलकज्जलमेचकम् ॥

तमस्युत्सादयामास सम्यग्ज्ञानविवस्वता ।
तमस्युपरते ह्यान्ते तेजःपुञ्जं ददर्श सः ॥
तल्लुलाव स्वसंज्ञानां घनं पाश इव द्विपः ।
तेजस्युपरते तस्य घूर्णमानं मनो मुनेः ॥
निशाब्जवद्गतां निद्रां तामप्याशु लुलाव सः ।
निद्राव्यपगमे तस्य व्योमसंवित्समुद्ययौ ॥
व्योमसंविदि नष्टायां मूढतापास्यचेतनः ।
क्षोभमभ्येत्य मनसा ममार्ज महाशयः ॥
ततस्तेजस्तमोनिद्रामोहादिपरिवर्जिताम् ।
कामप्यवस्थामासाद्य विशश्राम मनः क्षणम् ॥

सङ्कल्पविकल्परहित परमपावन परमात्माके स्वरूपमें, जैसे मेरुके शिखर पर मेघ स्थिर रहता है वैसे मैं कबतक चिरकाल पर्यन्त स्थिर रहूँगा ? ऐसा विचार करते हुए उद्दालक नामके ब्राह्मण बारंबार बैठकर चमत्कारसे ध्यानका अभ्यास कर रहे थे। वानरकी समान चपल चित्तको जब विषयोंसे रोका तब उनको सुखदायक समाधि में स्थिरता प्राप्त न हुई, उनका चित्तरूप वानर कभी बाहरी विषयों के सङ्गको छोड़कर भीतरके विषयोंको जाता था और कभी उनका मन भीतरके विषयोंको छोड़कर बाहरके विषयोंको दौड़ता था। जैसे त्रास पाया हुआ पंछी एक वृक्ष परसे दूसरे वृक्ष पर, वहांसे तीसरे वृक्ष पर इसप्रकार भटकता फिरता है, ऐसे ही उनका मन एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयमें वहांसे फिर तीसरेमें इसप्रकार भटका फिरता था। वह ब्राह्मण ध्यानका अभ्यास करते समय हृदय में उदय हुए सूर्यकेसे फैलेहुए तेजका अनुभव करता था। कभी केवल आकाशको देखता था, कभी गाढ़ अन्धकारको देखता था, जैसे शूर पुरुष रणमें तलवारसे शत्रुओंको काटता चला जाता है तैसे ही उद्दालक मुनि अपने अन्तःकरणमें क्रमसे जो जो आभास प्रकट होता था उसको मनसे दूर करते चले जाते थे। जब सब विकल्पोंको शान्त कर दिया तब उन्होंने अपने अन्तःकरणमें विवेक-रूप सूर्यको ढकनेवाले काजलकी समान अन्धकारको देखा, उस को भी यथार्थ ज्ञानरूप सूर्यसे शान्त कर दिया, तब उस अन्धकार के दूर होजाने पर उन्होंने अपने अन्तःकरणमें एक तेजका पुञ्ज देखा।

उनको भी जैसे पकड़े पागलोंके बन्धनको पागल हाथी तोड़ डालता है वैसे ही वृत्तिसे छिन्न भिन्न कर डाला, तदनन्तर तेजके उपराम को प्राप्त होजाने पर जैसे रात्रिमें बालक निद्राके वशमें होजाता वैसे ही उनका मन निद्राके वशमें होगया, तब योगीने उस आवरणको भी उड़ा दिया तदनन्तर उनके अन्तरमें आलस्यका बोध हुआ, उसका भी नाश होजाने पर उनका मन मोहयुक्त होगया। जब उन मुनिने उस मोहको भी दूर कर दिया तब उनका मन तेज, तम, निद्रा तथा मोह आदिके वशमें न होकर किसी अकथनीय दशाको प्राप्त होता हुआ क्षणभरको विश्राम पा गया।

ये सब व्युत्थान संस्कार प्रतिदिन और प्रत्येक क्षणमें निरोधके कारणरूप योगीके प्रयत्नसे अन्तर्धान होजाते हैं और निरोधसंस्कार प्रकट होते हैं ऐसा होनेसे क्षण २ में चित्त निरोधके अनुकूल होता चलाजाता है। ऐसे चित्तके परिणामको निरोधपरिणाम कहते हैं।

(शङ्का)-

प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः।

एक चैतन्य शक्तिको छोड़ कर शेष सब पदार्थ क्षण २ में परिणाम पाया करते हैं। इस न्यायसे चित्तका सदा परिणामरूप प्रवाह बराबर चलता रहना चाहिये, उसका निरोध हो ही नहीं सकता?

(समाधान)—जाग्रत् अवस्थामें तो चित्तका वृत्तिरूप परिणाम प्रकट ही है, निरुद्ध चित्तका परिणाम किस प्रकार होता है? इस शंकाका निवारण करनेके लिये भगवान् पतंजलि अपने सूत्रमें कहते हैं—

ततः प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥

निरोधसंस्कारसे चित्तकी प्रशान्तवाहिता होती है। अर्थात् जिस प्रकार अग्निमें समिधा घी आदि डालनेसे वह बराबर बढ़ता चला जाता है तथा समिधा आदिके जलजाने पर पहले क्षणमें ज्वाला कुछ एक शान्त होती है, दूसरे क्षणमें उससे अधिक शांत होती है इसप्रकार बराबर क्षण २ में अग्नि अधिक शान्त होता चलाजाता है इसप्रकार ही निरोधमें पहुँचाये हुए चित्तका उत्तरोत्तर शांतिका प्रवाह अधिक २ बढ़ने लगता है। उसमें पहली २ शान्तिसे उत्पन्न हुआ संस्कार ही आगे २ की शांतिका कारण है। इसप्रकार चित्तकी प्रशांतवाहिता भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्पष्ट रूपसे वर्णन की है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितं ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

जब अभ्यासके बलसे एकाग्रता पाया हुआ मन आत्मामें ही स्थिर रहता है तब शब्दादि विषयोंकी इच्छासे रहित हुआ योगी योगारूढ़ कहलाता है। जैसे वायुरहित स्थानमें रक्खा हुआ दीपक हिलता नहीं है, यही उपमा, आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रवृत्त हुए समाधिको साधनेवाले तथा ब्रह्ममें ही जिसका चित्त स्थिर रहता है ऐसे योगीके चित्तकी कही है। योगके सेवनसे ब्रह्मके विषैं निरुद्ध हुआ चित्त जहां उपराम पाता है और जहां ब्रह्मवित् योगी अपनी वृत्तिमें चढ़ेहुए आत्माका साक्षात् अनुभव करता हुआ आनन्द पाता है, जिसको इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता ऐसे केवल बुद्धिसे ही अनुभवमें आसकनेवाले निरतिशय सुखको जिस स्थितिमें जानता है और जिस स्थितिमें रहता हुआ पुरुष चैतन्य तत्त्वसे भी कभी चलायमान नहीं होता है, जिसको पाकर योगी पुरुष और किसी लाभको भी अधिक नहीं मानता है तथा जिसमें स्थित होनेपर महादुःखसे भी चलायमान नहीं होता है ऐसी इस दुःखके संसर्गसे शून्य अन्तःकरणकी अवस्थाका नाम योग है। इस योगको निश्चयके साथ कायरपनेसे शून्य चित्तके द्वारा सेवन करना चाहिये। निरोधसमाधिके साधनको बतानेवाला सूत्र यह है-

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।

वृत्तिको शान्त करनेके लिये बारंबार किये हुए प्रयत्नके अभ्याससे होनेवाली समाधिको कि-जिसमें चित्तका संस्कारमात्र शेष रहजाता है, असंप्रज्ञातसमाधि कहते हैं। चित्तके उपरामके कारणरूप प्रयत्न विशेषसे असंप्रज्ञातसमाधि होती है। यह बात भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कही है-

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

संकल्पसे उत्पन्न हुई सब अभिलाषाओंको निःशेष रूपसे त्याग कर और मनसे इन्द्रियोंके समूहको सब प्रकारसे नियममें लाकर सात्त्विक धैर्यवाली बुद्धिसे धीरे २ चित्तको वृत्तिरहित करे। फिर उस मनको केवल आत्मामें ही स्थिरताके साथ स्थापन करके योगी पुरुष किसी भी विषयका चिन्तवन न करे। चञ्चल और स्थिर न रहनेवाला मन जिन २ शब्दादिके कारणसे बाहरको जाता होय उन २ कारणोंसे उसको भीतरकी ओरको लौटा कर आत्मामें ही वशमें करके रक्खे।

इच्छाके विषय पुष्पमाला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, मित्र, घर, क्षेत्र आदि पदार्थ, मोक्षशास्त्रमें कुशल विवेकी पुरुषोंके स्पष्ट अनुभव करेहुए दोषोंसे भरे हैं, तथापि अज्ञानी पुरुष अपनी अविद्याके कारण उन दोषोंको नहीं देखते हैं, इस कारण वे उनको श्रेष्ठ मान बैठते हैं। यह पदार्थ मुझे मिलजाय तो बड़ा अच्छा हो, ऐसी इच्छा उनकी प्रत्येक पदार्थके लिये हुआ करती है। स्मृतिमें भी कहा है-

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः ।
काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे ॥
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलस्त्वं विनंक्ष्यसि ।

कामका मूल सङ्कल्प है, यज्ञ भी सङ्कल्पसे ही उत्पन्न होते हैं। हे काम! मैं तेरी मूलको जानता हूँ, किन्तु सङ्कल्पसे ही उत्पन्न होता

है, इसलिये मैं तेरा सङ्कल्प ही नहीं करूँगा तो तू आपजड़ मूलसे नष्ट हो जायगा।

इन पीछे कहेहुए पुष्पमाला आदि विषयोंमें विवेकके द्वारा दोषोंको स्पष्ट देखलेने पर जैसे कुत्तेके वमन करेहुए दुग्धपाक पर घिन होती है तैसे ही उन विषयों पर अरुचि होने लगती है। जैसे इस लोकके माला चन्दन आदि विषयोंकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, तैसे ही ब्रह्मलोककी और अणिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्यकी इच्छा भी अवश्य ही त्याग देनी चाहिये, यह बतानेके लिये ही ऊपरके श्लोकमें 'सर्वान्' विशेषण दिया है। एक महीने तक उपवास व्रतको धारण करनेवाले जिसने जिस महीनेमें अन्नका त्याग किया होता है उसकी भी अन्नके लिये बार बार इच्छा हुआ करती है, इसलिये 'अशेषत:' अर्थात् कुछ भी शेष न रहे ऐसा कहा है। कामको त्याग देनेपर मन से प्रवृत्ति नहीं होती है तथापि चक्षु आदि इन्द्रियोंकी अपने २ रूप आदि विषयोंमेंको स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। उसको भी प्रयत्न करके मन लगाकर रोकना चाहिये। देवदर्शन पर्यन्तकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिये 'समत:' (चारों ओरसे) यह पद दिया है। पहले प्रथम भूमिकाको जीते, फिर दूसरीको तदनन्तर तीसरीको इसप्रकार क्रमसे भूमिकाओंको जीतता हुआ चित्तको उपराम प्राप्त करावे, यह जतानेके लिये 'शनैः शनैः' (धीरे धीरे) यह पद दिया है। भूमिकायें चार हैं, उनका वर्णन कठवल्ली उपनिषद्में किया है-

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि

वाणीका मनमें लय करे, उस मनका ज्ञानात्माविशेष अहङ्कारमें लय करे, उसका महान् आत्मा-सामान्य अहङ्कारमें लय करे तथा सामान्य अहङ्कारका शान्त आत्मा उपाधिशून्य शुद्ध चैतन्यमें लय करे।

इस मंत्रका विशेष तात्पर्य यह है, कि-वाणीका व्यापार दो प्रकार का होता है, एक लौकिक दूसरा वैदिक। बोलना बात चीत करना लौकिक व्यापार कहलाता है और प्रणव आदिका जप करना लौकिक व्यापार कहलाता है। इन दोनोंमें वाणीका जो लौकिक व्यापार है। वह चित्तको अतिशय विक्षेपमें डालने वाला है, इसकारण योगाभ्यासी व्युत्थानकालमें अर्थात् समाधिसे उठनेके अनन्तर भी उसका त्याग ही करे। स्मृति भी कहती है-

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता ।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनः ॥

मौन, योगके आसन, योगसाधन, गरमी सरदी आदिको सहना रूप तितिक्षा, एकान्तमें रहना, किसी प्रकारकी इच्छा न करना तथा समदृष्टि रखना ये सात एकदण्डधारी सन्यासीके लक्षण हैं ।

निरोध समाधिमें जप आदिको भी त्यागदेय, यह वाणीरूप प्रथम भूमिका है । इस भूमिकाको कितने ही दिन, महीने या वर्षोंमें रहता से जय करके फिर दूसरी मनोभूमिकाके जयके लिये उद्योग करे । जो क्रमसे एक २ भूमिकाको जय न करके पहले ही अन्तकी भूमिकाको पाना चाहता है तो वह, जैसे बहुतसे मंजिलोंवाली हवेलीकी सबसे ऊपरकी मंजिलमें पहुँचना चाहनेवाला मनुष्य क्रम २ से एक २ मंजिलको न लांघकर एकसाथ कूदकर ऊपरकी मंजिल पर पहुँचना चाहे तो वह ऊपरकी मंजिल पर न पहुँच कर भूमि पर ही पछाड़ खाकर गिरपड़ता है और लोग उसकी हँसी करते हैं, यही दशा इस उतावले साधककी भी होती है । यद्यपि चक्षु आदिका भी निरोध करना आवश्यक है, तथापि उसको वाणीरूप वा मनोरूप भूमिकाके ही अन्तर्गत मानलेना चाहिये अर्थात् वाणी के वा मनके निरोधके साथ अन्य इन्द्रियोंका भी निरोध होजाता है ।

(शङ्का)-वाणीको मनमें निरोध करना जो कहा है, यह बात तो असंभवसी प्रतीत होती है, क्योंकि-एक इन्द्रियका दूसरी इंद्रियमें प्रवेश नहीं होसकता ।

(समाधान)-हम यह नहीं कहते कि-प्रवेश होजाता है, किन्तु हमारे कहनेका तात्पर्य यह है, कि-अनेकों प्रकारके विकल्पोंको उत्पन्न करनेवाले मन वा वाणीमेंसे पहले वाणीके व्यापारको रोक कर केवल मनके व्यापारको शेष रक्खे ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है, कि जैसे बैल, भैंसा, घोड़ा आदि प्राणियोंमें स्वाभाविक ही वाणीजय होता है, इसप्रकार ही स्वाभाविक रीतिसे वाणीका जय होजाने पर मनका ज्ञानात्मामें निरोध करे । ज्ञानात्मा महानात्मा तथा शान्तात्मा ऐसे तीन प्रकारका आत्मा है । ज्ञातापनेकी उपाधि जो अहङ्कार वह ज्ञानात्मा शब्दमें ज्ञान पदका अर्थ है । अहङ्कार दोप्रकारका है-एक विशेष अहङ्कार और दूसरा सामान्य अहङ्कार 'मैं देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र हूँ' यह विशेष अहंकारका स्वरूप है । तथा 'मैं हूँ' यह

सामान्य अहङ्कार है, ऐसा अहंकार सब प्राणियोंमें व्याप्त है, इस कारण उसका सामान्य अहंकार नामसे कहते हैं। इस दो प्रकारके अहंकाररूप उपाधिवाले आत्माका श्रुतिने क्रमसे ज्ञानात्मा और महानात्मा नामसे व्यवहार किया है। निरुपाधि आत्माको शांतात्मा कहते हैं। इन तीनों आत्माओंमें सबसे बाहर ज्ञानात्मा है तथा अंतर् महानात्मा है और उसके भी अन्तर् शान्तात्मा है, इस सर्वान्तर चिद्रेक रसमें जड़वर्गको उत्पन्न करनेवाली जो शक्ति रहती है, उसको अव्यक्त अथवा मूलप्रकृति कहते हैं। वह मूलप्रकृति पहले सामान्य अहंकाररूप 'महत्तत्त्व' नामको धारण करके प्रकट होती है। फिर उसके बाहर विशेष अहङ्कार रूपसे प्रकट होती है, फिर उसके भी बाहर मनरूपसे प्रकट होती है और तदनन्तर इंद्रिय आदि रूपसे प्रकट होती है, इस लिये सबसे बाहर इन्द्रिय आदि हैं, उनके भीतर मन है, उसके भीतर विशेष अहंकार है, उसके भीतर सामान्य अहंकार है, उसके भीतर मूलप्रकृति है और उसके भी भीतर पुरुष है। इस ही अभिप्रायको भगवती श्रुति भी कहती है-

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

इन्द्रियोंसे विषय पर (श्रेष्ठ) हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है, बुद्धिसे महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) पर है, महत्तत्त्वसे अव्यक्त (अव्याकृत) पर है, अव्यक्तसे पुरुष पर है, पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है, वह सबका अवसान और परम गन्तव्य स्थान है। ऐसा है, इसलिये मनका अहङ्कारमें निरोध करे अर्थात् मनके व्यापारको त्यागकर केवल अहङ्कारको शेष रक्खे। यह बात बनना अशक्य है ऐसा न समझना, क्योंकि—

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।

इस मनका निग्रह वायुके निग्रहकी समान होना कठिन है, ऐसा मेरा मत है। अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने यह कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

हे महाबाहो ! मन चञ्चल है, इसलिये इसका वशमें होना अति-कठिन है, इस बातमें जरा सन्देह नहीं है, परन्तु अभ्यास तथा वैराग्यसे वशमें होसकता है, जिसने शरीर और इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर पाया है, उस पुरुषको योगका दुःखसे भी प्राप्त होना अशक्यसा है, यह मेरा मत है, परन्तु जिसने शरीर आदिको वशमें करलिया है उस पुरुषको यह योग उपाय करने पर प्राप्त होसकता है।

अभ्यास और वैराग्यका व्याख्यान श्रीपतञ्जलिके सूत्रोंका उदाहरण देकर बताया जायगा। पहली पहली भूमिकाको जिसने अति-दृढ़ताके साथ जीतलिया है उसको संयतात्मा अर्थात् देह इन्द्रिय आदिकों वशमें करनेवाला जानो। तथा जिसने देह इन्द्रियादिको नहीं जीता है वह असंयतात्मा कहलाता है। उपाय करने पर मन वशमें होजाता है, इस बातको श्रीगौड़पदाचार्यने दृष्टान्त देकर समझाया है—

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः ॥
बहुभिर्न विरोद्धव्यमेकेनापि बलीयसा ।
स पराभवमाप्नोति समुद्र इव टिट्टिभात् ॥

जैसे कुशाकी नोकसे एक २ बिन्दु लेकर समुद्रको उलीचनेका काम यदि कायर न हो तो कर सकता है, ऐसे ही यदि उकता न जाय तो मनका निग्रह भी होसकता है। एक पुरुष कि—जो स्वयं बलवान् हो, तो भी उसको बहुतोंके साथ विरोध नहीं करना चाहिये. क्योंकि-जैसे समुद्रने टिट्टिभसे तिरस्कार पाया तैसे ही वह पुरुष तिरस्कार पाता है टिट्टिभकी कथा इसप्रकार है—

एक टिट्टिभका जोड़ा समुद्रके किनारे पर रहता था। एक समय टिट्टिभीके प्रसवका समय पास ही आगया, तब उसने अपने स्वामी से कहा, कि—बताओ, मैं अण्डे कहां रक्खूं इसपर टिट्टिभने कहा, कि—समुद्रके किनारे पर ही रख, टिट्टिभीने कहा, कि—समुद्र उनको बहा कर लेजायगा। टिट्टिभने उत्तर दिया, समुद्रकी क्या शक्ति है ? तू आनन्दसे समुद्रके किनारे पर जाकर अण्डे धर

टिट्टिभीने अनेकों प्रकारसे समझाया, परन्तु उसकी समझमें एक बात भी नहीं आयी, तब उसने प्रसव होने पर अपने अण्डे समुद्रके तट पर ही रक्खे। समुद्रने विचारा, कि-यह टिट्टिभ छोटासा पक्षी बड़े बलकी बात कह रहा है, देखूँ तो सही यह क्या करता है? ऐसा विचार कर समुद्रने उसके अण्डे बहालिये और एक स्थान पर सुरक्षित कर रख दिये। टिट्टिभ यह समाचार पाते ही क्रोधमें भर-गया और समुद्रको सुखानेके लिये अपनी चोंचसे एक २ बूँद लेकर बाहर डालने लगा। दूसरे पक्षियोंने उसे बहुत समझाया तो भी वह किसीकी बात न मान कर कहने लगा, कि-इस समय मुझे तुम्हारी सलाहकी आवश्यकता नहीं है, यदि मेरी सहायता करनी हो तो करो, नहीं तो जाओ, इसपर दूसरे पक्षी भी उसकी समान चोंच से जल ले ले कर बाहर डालने लगे, यह देखकर नारदमुनिके अन्तः-करणमें दया आयी, उन्होंने पक्षियोंकी सहायताके लिये गरुड़जीको भेजा, गरुड़जीके पंखोंकी पवनसे समुद्र सूखने लगा, तब उसने भय-भीत हो टिट्टिभके अण्डे लाकर देदिये-

इस प्रकार खेद न मानकर मनके निरोधरूप सर्वोत्तम धर्ममें प्रयत्न करनेवाले योगीके ऊपर ईश्वर अनुग्रह करते हैं इससे उसका मन निरुद्ध होजाता है। जैसे कोई मिष्टान्न खानेवाला मनुष्य बीच २ में चूसने और चाटनेके दूसरे पदार्थोंका स्वाद लेता जाता है, इससे उसकी मिष्टान्नमें अरुचि नहीं होती है। ऐसे ही योगाभ्यासी पुरुष, योगके अनुकूल दूसरे व्यापारोंको भी मिलालेता है, इससे वह योगा-भ्यासी कायर नहीं होता है, इस बातको ही वशिष्ठजी भी कहते हैं-

चित्तस्य भोगैर्द्वौ भागौ शास्त्रेणैकं प्रपूरयेत्।
गुरुशुश्रूषया भागमव्युत्पन्नस्य संक्रमः॥
किञ्चिद्व्युत्पत्तियुक्तस्य भागं भोगैः प्रपूरयेत्।
गुरुशुश्रूषया भागौ भागं शास्त्रार्थचिन्तया॥
व्युत्पत्तिमनुयातस्य पूरयेच्चेतसोऽन्वहम्।
द्वौ भागौ शास्त्रवैराग्यैर्द्वौ ध्यानगुरुपूजया॥

भोगोंसे चित्तके दो भागोंको भरे, एक भागको शास्त्रके विचारसे पूर्ण करे तथा एक भागको श्रीसद्गुरुकी सेवासे पूर्ण करे, इसप्रकार योगमें प्रवेश करनेवाले के चित्तका क्रम है। योगमें कुछएक कुश-लता पाये हुए चित्तके एक भागको भोगोंसे भरे, दो भागोंको सद्गु-

रूको सेवासे पूर्ण करै और एक भागको शास्त्रके विचार से पूर्ण करै। योगमें पूर्ण रीतिसे कुशलता पाये हुए चित्तके दो भागोंको प्रतिदिन शास्त्रविचार और वैराग्यसे पूर्ण करै और दो भागोंको ध्यान तथा गुरुपूजनसे पूर्ण करै।

इस कहनेका तात्पर्य यह है, कि-यहां योगका अर्थ भिक्षा माँगना आदि जीवनकी कारणरूप क्रियाएँ और वर्णाश्रमके अनुकूल कर्म। एक घड़ी अथवा मुहूर्तमात्र अथवा यथाशक्ति योगाभ्यास करके फिर दो घड़ी शास्त्रका श्रवण अथवा श्रीगुरुकी सेवा करके दो घड़ी शरीर की क्रिया करै, तदनन्तर उसके बाद दो घड़ी तक शास्त्रका विचार करके फिर दो घड़ी योगाभ्यास करै। इसप्रकार अपने कर्तव्यमें प्रधान एक योगाभ्यासको देकर उसके साथ दूसरे व्यापार मिलाता हुआ सोनेके समय आज योगमें कितना समय लगा, इसका विचार करै, फिर दूसरे दिन, दूसरे पक्षों वा दूसरे महीनेमें योगके समयको बढ़ाना आरम्भ कर देय। इसप्रकार एक २ मुहूर्तमें एक २ क्षणके योगसे भी वर्षभरमें बहुतसा योगका समय होजाता है। इसप्रकार योगमें प्रतिदिन अधिक समय लगने पर तो कार्योंका करना नहीं बनसकेगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि-योगके सिवाय अन्य व्यापारोंको त्यागदेनेवालेका ही योगमें अधिकार है, इसलिये ही योग साधनेके लिये विद्वत्संन्यासकी आवश्यकता है। अतः योग-परायण पुरुष, विद्यार्थी तथा व्यापारीकी समान धीरे २ योगारूढ होजाता है। जैसे वेदाध्ययन करनेवाला विद्यार्थी पहले आधा पाद, फिर पाद, फिर आधी ऋचा, फिर पूरी पूरी ऋचा, फिर दो ऋचा, फिर वर्ग, इस क्रमसे पढ़ता हुआ दश बारह वर्षमें दूसरोंको वेद पढ़ानेवाला अध्यापक बनजाता है। तथा जिसप्रकार व्यापारी एक रुपया, दो रुपया, इसप्रकार दिन प्रतिदिन कमाई करता हुआ क्रमसे लखपती व करोड़पती बनजाता है। ऐसे ही योगी भी क्रमसे योगको बढ़ाताहुआ समय पाकर योगारूढ़ क्यों नहीं होजायगा? अवश्य ही होजायगा इसलिये बारंबार उठतेहुए सङ्कल्प विकल्पोंको उद्दालक मुनिकी समान त्यागकर, विशेष अहङ्कार जिसको ज्ञानात्मा कहते हैं उसमें मनका निरोध करै। इसप्रकार दूसरी भूमिकाको जीत कर बालक अथवा गूँगेकी समान अमनस्कता स्वाभाविक रूप से सिद्ध होजाने पर स्फुट स्वरूपवाला विशेष अहङ्कार जिसको ज्ञानात्मा कहते हैं उसको अस्फुट सामान्य अहङ्कार महत्तत्वमें लय करै। जैसे स्वल्प तन्द्रा अर्थात् अर्धनिद्राके वशमें हुए

पुरुषका विशेष अहंकार अपने आप संकुचित होजाता है, ऐसे ही विशेष अहङ्कारको विस्मरण करनेका यत्न करतेहुए योगीका अहंकार विना ही निद्राके संकुचित होजाता है । यह जो लोकमें प्रसिद्ध तन्द्राकी समान अथवा नैयायिकोंके माने हुए निर्विकल्प ज्ञानकी समान अवस्था है, कि-जिसमें महत्तत्त्व रूप सामान्य अहंकार शेष रहता है उसको तीसरी भूमिका कहते हैं । इस भूमिका के अभ्यासके जय होजाने पर इस सामान्य अहङ्कार का निरुपाधि होनेके कारण शान्त शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें निरोध करे-

महत्तत्त्वं तिरस्कृत्य चिन्मात्रं परिशेषयेत् ।

महत्तत्त्वको भूलकर चैतन्यमात्रको ही शेष रक्खे । ऐसा होनेके लिये भी महत्तत्त्वको भूलजानेका विशेष प्रयत्नरूप उपाय करनेकी आवश्यकता है । जैसे शास्त्रका अभ्यास करनेमें लगेहुए पुरुषको व्युत्पत्ति होनेसे पहले प्रत्येक ग्रन्थके व्याख्यान (टीका टिप्पण) की आवश्यकता होती है, परन्तु व्युत्पत्ति होजाने पर आगेके ग्रन्थ का अर्थ उसको आप ही फुरने लगता है, ऐसे ही जो पहली भूमिका का जय करचुका होता है उसको उत्तर भूमिकाके जयका उपाय अपने आप मालूम होजाता है । यही बात भगवान् योगभाष्यकार कहते हैं-

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम् ॥

उत्तरभूमिकारूप योगको पूर्वभूमिकारूप योगसे जाने । योगसे योग प्रवृत्त होता है, जो योगी योगमें प्रमादरहित (सावधान) होता है वह योगी पहली २ भूमिकाको जीतता हुआ आगे २ की भूमिका की प्राप्तिसे चिरकाल पर्यंत अलौकिक सुखका अनुभव करता है ।

(शङ्का)-महत्तत्त्व और निरुपाधिक शान्तात्मा इनमें महत्तत्त्वका उपादान अव्यक्त (प्रकृति) नामक तत्त्वको श्रुतिने बताया है । इस लिये महत्तत्त्वका अव्यक्तमें निरोध क्यों नहीं कहा ?

(समाधान)-महत्तत्त्व (सामान्य अहङ्कार) का उसके उपादान प्रकृतिमें निरोध करनेसे उसका लय होजाता है । जैसे कि घड़ेके जलमें, जो कि-उसका उपादान नहीं है, डुबानेसे उस घड़ेका लय नहीं होता है, परन्तु मृत्तिकामें उस घड़ेका लय होजाता है, इस प्रकार ही जो कि-महत्तत्त्वका उपादान नहीं है, उस शुद्ध चैतन्यमें

महत्तत्त्वका लय नहीं होता है परन्तु अन्तःकरण लय होजायगा, क्योंकि यह उसका उपादान है । अन्तःकरणकी एकाग्रता आत्मदर्शनका कारण है इसकारण पुरुषार्थ है, उसका लय पुरुषार्थरूप नहीं है ।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

सूक्ष्मदर्शी पुरुष सूक्ष्म तथा एकाग्रबुद्धिसे आत्माका दर्शन करता है । यदि अन्तःकरणका लय पुरुषार्थ हो तब तो वह प्रतिदिन सुषुप्ति के समय अपने आप हुआ ही करता है अतः उसके लिये प्रयत्न करना निरर्थक है ।

(शङ्का)-धारणा,ध्यान और समाधिमें सिद्ध होने वाला संप्रज्ञात समाधि एकाग्रवृत्तिरूप है, इस कारण वह आत्मदर्शनका हेतु है, यह बात निर्विवाद है, परन्तु शान्तात्मामें निरोध करनेसे असंप्रज्ञात समाधिको प्राप्त चित्त वृत्तिरहित होता है इसकारण वह सुषुप्तिकी समान आत्मदर्शनका कारण नहीं होसकता ।

(समाधान)-आत्मदर्शन स्वयंसिद्ध है, इस कारण उसका कारण नहीं होसकता, अतएव ही श्रेयोमार्ग ग्रन्थके कर्त्ताने कहा है

आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम् ।
आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत ॥

चित्त स्वभावसे ही आत्माकार अथवा अनात्माकार स्थित रहता है, इसलिये अनात्माकार दृष्टिका तिरस्कार करता हुआ उसको आत्माकार करे ।

जब घड़ा उत्पन्न होता है तब ही वह आकाशसे पूर्ण उत्पन्न होता है, उसमें आकाश भरनेके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, परन्तु यदि उसमें जल अथवा अन्न भरना होता है तो यह काम घड़ा उत्पन्न होजाने पर पुरुषके प्रयत्नसे ही होसकता है । उसमेंसे जल आदि निकाल डालने पर भी आकाशको कोई नहीं निकाल सकता । यदि घड़ेका मुख बन्द कर दिया जाय तब भी आकाश तो उसमें रहता ही है, इसप्रकार ही चित्त भी जब उत्पन्न होता है वह आत्मचैतन्यसे पूर्ण ही उत्पन्न होता है, जिसप्रकार घड़ियामें डाल कर गलाई हुई तांबा आदि धातुका घड़ियाकेसा ही आकार दीखने लगता है, इसप्रकार ही चित्त उत्पन्न होनेके अनन्तर भोगके हेतुरूप धर्म अधर्मके कारणसे घड़ा, वस्त्र, रूप, रस, सुख, दुःख आदि वृत्तिरूप होजाता है, इस चित्तके रूप रस आदि अनात्म

आकारोंको दूर कर देने पर भी उसका स्वाभाविक चैतन्याकार दूर नहीं किया जासकता इसलिये वृत्ति रहित निरोध समाधिमें संस्कारमात्र शेष रहनेके कारण सूक्ष्म और केवल आत्माभिमुख होने के कारण एकाग्र हुआ चित्त निर्विघ्नताके साथ आत्माका ही अनुभव करता है। इस ही अभिप्रायसे वार्त्तिककार तथा सर्वानुभव योगीने कहा है, कि—

सुखदुःखादिरूपित्वं धियो धर्मादिहेतुतः
निर्हेतुत्वात्मसंबोधरूपत्वं वस्तुवृत्तितः ॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम्।
असंप्रज्ञाननामाऽयं समाधिर्योगिनां प्रियः ॥

धर्म आदिके कारणसे चित्त सुख दुःख आदि आकारको धारण करता है और बोधरूप आत्माकार तो कारणके विना ही अपने स्वभावसे होजाता है, वृत्तिरहित हुआ चित्त परमानन्दस्वरूपका प्रकाश करता है, उसको असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं, यह समाधि योगियों को प्यारी है।

यद्यपि आत्मदर्शन स्वतः सिद्ध है तथा अनात्मवस्तुके दर्शनका निवारण करनेके लिये चित्तके निरोधका अभ्यास करनेकी आवश्यकता है, इसलिये ही भगवान् कहते हैं, कि—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिंतयेत्।

मनको आत्मामें स्थिर करके साधक किसी भी विषयका चिन्तवन न करे।

योगशास्त्र केवल चित्तके राग आदि दोषोंको दूर करनेवाली समाधिका ही वर्णन करता है, इसलिये उसमें समाधिकालमें आत्मदर्शनको साक्षात् कथन नहीं किया है, तथापि प्रकारान्तरसे आत्मदर्शनको माना है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

चित्तकी वृत्तिके निरोधका नाम योग है। इस सूत्रके अनन्तर—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

समाधिमें द्रष्टाकी निजस्वरूपमें स्थिति होती है। यह सूत्र दिया है। यद्यपि निर्विकार द्रष्टा सदा निजस्वरूपमें ही स्थित होता है, तो भी जबतक वृत्तियें उत्पन्न होती रहती हैं तबतक उनमें चैतन्यका

प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण अविवेकपना द्रष्टा भी विकारी सा होता है। यह बात भी भगवान् पतञ्जलिने कही है—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

योगसे भिन्न दशामें आत्मा वृत्तिके साथ तादात्म्यको पाया हुआ प्रतीत होता है। भगवान् पतंजलिने और भी कहा है-

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्।

बुद्धि और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं, बुद्धिके सुख दुःख आदि परिणाम जो पुरुषमें प्रतिबिम्बके द्वारा प्रतीत होते हैं वह भोग है, यह भोग दृश्य होनेके कारण पुरुषके लिये है।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।

चितिशक्ति (पुरुष) जिसका अन्यत्र गमन नहीं होता है, उस की छाया बुद्धिमें पड़कर बुद्धि के आकारको पाजानेके कारण अपनी भोग्य बुद्धिका ज्ञान होता है।

निरोधसमाधिसे शोधन कियेहुए त्वं पदार्थका साक्षात्कार कर लेने पर भी ब्रह्मतत्वका साक्षात् अनुभव करनेके लिये श्रीगुरुदेवके मुखसे महावाक्यको सुन कर ब्रह्मविद्या नामकी एक प्रकारकी वृत्ति उत्पन्न होती है। शुद्ध त्वं पदार्थके साक्षात्कारमें केवल निरोध-समाधिरूप ही उपाय नहीं है, किंतु श्रीगुरुदेवकी उपदेश की हुई युक्तियोंके द्वारा चैतन्य और जड़का विवेक होजानेसे जड़से पृथक् रूपमें त्वं पदार्थरूप प्रत्यक् आत्माका साक्षात्कार होता है। इस लिये वशिष्ठ भगवान् कहते हैं कि-

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिद्ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः॥

चित्तके नाशके दो उपाय हैं-एक योग और दूसरा ज्ञान। मनकी वृत्तिको रोकनेका नाम योग है और यथार्थ विचारको ज्ञान कहते हैं। इनमें किसीको योगका साधन कठिन होता है तो किसीको ज्ञान का निश्चय असाध्य होता है, इसलिये परमेश्वर महादेवने दोनों प्रकार कहे हैं।

(शङ्का)-आत्माका दर्शन करनेके समय केवल आत्माका ही ग्रहण करनेवाली एकाग्रवृत्ति संप्रज्ञातसमाधि रूप है, इस लिये विवेक ज्ञान भी वास्तवमें योग ही है, अतः योगसे ज्ञानको भिन्न माननेमें कोई कारण नहीं है।

(समाधान)-यह कहना ठीक है, तथापि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधिके स्वरूपमें और उनके साधनमें बड़ाभारी अन्तर है। संप्रज्ञात समाधिमें वृत्तिका सद्भाव होता है और असंप्रज्ञात समाधि में वृत्तिका अभाव होता है। यही दोनोंके स्वरूपका भेद है। धारणा ध्यान और समाधि ये तीन अङ्ग संप्रज्ञात समाधिके अन्तरङ्ग साधन हैं, क्योंकि-ये संप्रज्ञात समाधिके सजातीय हैं। इनको सजातीय इसलिये कहा है, कि-जैसी वृत्ति धारणा आदि तीनों अङ्गोंमें होती है तैसी ही वृत्ति संप्रज्ञात समाधि भी होती है। ये तीनों अङ्ग वृत्ति-रहित असंप्रज्ञात समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं क्योंकि-ये असंप्रज्ञात समाधिके विजातीय हैं। भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि-

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।

वे धारणा आदि तीनों अङ्ग निर्बीज कहिये असंप्रज्ञात समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं। धारणा आदि तीनों अङ्ग वृत्तियुक्त होते हैं इस कारण असंप्रज्ञात समाधिसे विजातीय होकर भी अनेकोंप्रकारकी अनात्माकार वृत्तिको हटाते हैं, अतः इसमें उपकारक होनेसे उनको बहिरङ्ग साधन माननेमें कुछ बाधा नहीं है। इस बातको भगवान् पतञ्जलिने अपने सूत्रमें भी कहा है-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

और दूसरोंको श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, एकाग्रता, विवेकख्याति (प्रकृति पुरुषकी भिन्नताके ज्ञान) के द्वारा संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है और उनके होजाने पर परवैराग्यके द्वारा असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

इस सूत्रसे पहले सूत्रमें 'कितने ही देवता आदिको जन्मसे ही समाधि सिद्ध होती है' ऐसा कहकर मनुष्योंको समाधिकी सिद्धि होनेका उपाय इस सूत्रमें बताया है। 'मेरे लिये तो योग ही परम पुरुषार्थका साधन है' ऐसे दृढ़ निश्चयका नाम श्रद्धा है। यह श्रद्धा योगकी प्रशंसाको सुननेसे उत्पन्न होती है। योगकी महिमा भगवद्गीता में कही है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ है और कर्मठोंसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये हे अर्जुन! तू योगी हो।

योग उत्तम लोकोंका साधन है, इसकारण कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपसे और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञरूप कर्मसे बढ़कर है तथा चित्तके विश्रामका हेतु है, इसकारण ज्ञानका अन्तरङ्ग साधन है, अतएव ज्ञानसे भी अधिक है। ऐसे ज्ञानसे भी योग अधिक है इस प्रकार योगकी श्रेष्ठताको जान लेने पर उसमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा जब दृढ़रूपसे बँधजाती है उस समय जैसे भी होस-केगा मैं योगका साधन अवश्य करूँगा' ऐसा उत्साह उत्पन्न हो-जाता है, तब अवश्य सेवन करने योग्य योगके अङ्गोंका स्मरण आता है। स्मरण होने पर वह अधिकारी पुरुष श्रीगुरुदेवके अनु-ग्रहसे समाधिको सिद्ध करता है उसके सिद्ध होजानेपर अध्यात्म-प्रसाद अर्थात् भूत भविष्यत् सब पदार्थोंको एक साथ ग्रहण करने वाली बुद्धिका उदय होता है। अध्यात्मप्रसाद होनेसे ऋतम्भरा कहिये वस्तुके यथार्थस्वरूपका प्रकाश करनेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है। ऐसी बुद्धि जिसमें कारण है वह असंप्रज्ञात समाधि देवताओंके अतिरिक्त मनुष्योंको भी सिद्ध होजाती है। इस बुद्धिके विषयमें भगवान् पतञ्जलिने अपने सूत्रमें कहते हैं, कि—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

उपरोक्त अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होजाने पर वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश करनेवाली बुद्धिका उदय होता है। ऋतम्भराकी योग्यताको भगवान् पतञ्जलि दिखाते हैं, कि—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

समाधिसे उत्पन्न हुई बुद्धि सुनेहुए और अनुमान कियेहुए विषयों से और ही विलक्षण अर्थको विषय करती है। तात्पर्य यह है कि-सूक्ष्म, व्यवधानवाले और दूर देशमें धरीहुई वस्तुका प्रत्यक्षज्ञान योगीके अतिरिक्त और किसीको नहीं होता है। शब्दप्रमाण और अनुमान प्रमाणसे अयोगी मनुष्य वस्तुका ज्ञान पा सकता है, योगि-योंका योगके द्वारा होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान तो वस्तुके विशेष आकार को ग्रहण करता है, इसलिये उसकी बुद्धिमें ऋतम्भरापन होना सम्भव ही है इस योगीका प्रत्यक्षज्ञान असंप्रज्ञात समाधिमें बहिरङ्ग

साधनरूप है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये असंप्रज्ञात समाधि का उपकारकपना भगवान् पतञ्जलि अपने सूत्रमें कहते हैं-

तज्जः संस्कारोन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ।

समाधिप्रज्ञासे उत्पन्न हुआ संस्कार व्युत्थान संस्कारका बाधक होता है ।

असम्प्रज्ञात समाधिका बहिरङ्ग साधन कहकर अब उन संस्कारों के निरोधके लिये किये जानेवाले प्रयत्नकी अन्तरङ्ग साधनताको दिखाते हैं-

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

उस संप्रज्ञात समाधिके संस्कारका निरोध करनेसे सब वृत्तियों का निरोध होजाता है और उससे निर्बीज समाधि होती है ।

इस सुषुप्तिकी समान असंप्रज्ञात समाधिका अनुभव साक्षिचैतन्य करता है । जैसे सुषुप्तिमें सब वृत्तियोंका निरोध होजाता है तैसे ही असंप्रज्ञात समाधिमें भी होजाता है, इसलिये वह सुषुप्ति अवस्था ही है, ऐसी शङ्का यहां नहीं करनी चाहिये, क्योंकि-सुषुप्तिमें मनके स्वरूपका लय होजाता है और इस समाधिमें तो मन रहता है, यही सुषुप्ति और समाधिमें भेद है । गौडपादाचार्यने भी यही बात कही है

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥
लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥

बुद्धिमान् मनुष्यके निग्रह किये हुए निर्विकल्प मनकी अवस्था सुषुप्तिकी समान नहीं होती है, किन्तु उसमें उससे विलक्षणता होती है, क्योंकि-सुषुप्तिमें मनका लय होजाता है और निग्रह किये हुए मनका लय नहीं होता है, वह सर्वज्ञ ज्ञानका प्रकाशरूप निर्भय ब्रह्म है । माण्डूक्य शास्त्रमें भी सुनाजाता है-

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥

प्राज्ञ (सुषुप्ति का अभिमानी) और तुरीय अवस्थामें स्थित पुरुष को द्वैतकी अप्रतीति एकसी होती है तथापि प्राज्ञ बीजरूप निद्रासे युक्त होता है और तुरीयमें निद्रा नहीं होती है. यही प्राज्ञ और तुरीय में अन्तर है। विश्व और तैजस स्वप्न तथा निद्रासे युक्त है और प्राज्ञ स्वप्नरहित है तथा केवल निद्रासे युक्त है। तुरीय अवस्थामें स्थितिवाले पुरुष तो निद्रा और स्वप्न दोनोंको नहीं देखते हैं। अन्यथा ग्रहण करनेवालेको स्वप्न होता है और जो तत्त्वको नहीं जानता उसको निद्रा होती है। जब आत्मवस्तुके अग्रहण और अन्यथा ग्रहणका क्षय होजाता है तब पुरुष तुरीय पदका अनुभव करता है।

अद्वैत आत्मवस्तुका अन्यथा ग्रहण अर्थात् द्वैतरूपसे जो प्रतीति है यह द्वैतकी प्रतीति विश्वकी जाग्रत् अवस्थामें होती है, इसलिये यहां दोनों अवस्थाओंको 'स्वप्न' नामसे कहा है। आत्मतत्त्वका अज्ञान निद्रा कहलाता है। ये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके अभिमानी विश्व-तैजस और प्राज्ञमें रहती हैं। अब इन स्वप्न और निद्राका विपर्यास अर्थात् मिथ्याज्ञान विचारसे नष्ट होजाता है अर्थात् आत्मवस्तुका अग्रहण और ग्रहण नष्ट होजाता है तब पुरुष तुरीय कहिये अद्वैतपद का अन्यथा अनुभव करता है।

(शङ्का)-जिसको तत्त्वदर्शनकी इच्छा है उसको आत्मसाक्षात्कार का साधन समाधिकी अपेक्षा भले ही हो, परन्तु जिसको विविदिषा संन्यासमें ही आत्मज्ञान होचुका है उसको जीवन्मुक्तिके लिये समाधिका कुछ प्रयोजन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि-रागद्वेष आदि क्लेशरूप बंधनकी निवृत्ति तो जीवको अनायास प्राप्त होनेवाली सुषुप्ति से भी हो ही जाती है।

(समाधान)-प्रतिदिन अपने आप थोड़ेसे समयके लिये जो सुषुप्ति आती है वह क्लेशरूप बन्धनको हटानेवाली है, तुम यह बात ही तो कहते हो? या कि-अभ्याससे सदा रहनेवाली सुषुप्तिको बन्धनका निवर्तक कहते हो? यदि थोड़ेसे समय रहनेवाली सुषुप्तिको बंधनका निवर्तक कहते होओ तो वह, सुषुप्तिसमयके क्लेशको टालती है? या अन्य समयके क्लेशको भी दूर करती है? यदि कहो, कि-सुषुप्ति समयके ही क्लेशको दूर करती है तो यह बात हो नहीं सकती क्योंकि-

उस समय तो क्लेश होता ही नहीं तो फिर वह दूर ही किसको करेगी मूढ़ पुरुषोंको भी सुषुप्तिमें बन्धन नहीं होता है, यदि बन्धन होय तो उसको दूर करनेके लिये प्रयत्न कियाजाय। यदि कहो, कि-वह अन्य अवस्थाके क्लेशको दूर करती है तो यह भी नहीं होसकता, क्योंकि-अन्य समयमें रहनेवाली सुषुप्तिसे कालान्तरमें रहनेवाले क्लेशोंकी निवृत्ति नहीं होसकती। यदि ऐसा होजाया करे तब तो मूढ़ पुरुषोंके भी जाग्रत् तथा स्वप्नके क्लेशोंका क्षय होजाना चाहिये। सदा सुषुप्तिकी अनुवृत्ति रखनेका अभ्यास बन भी नहीं सकता, क्योंकि-सुषुप्तिका कारण कर्मक्षय है, इसलिये तत्वज्ञानी पुरुषको भी क्लेशका क्षय करनेके लिये असंप्रज्ञात समाधिकी अपेक्षा है, जैसे गौ भैंस आदि पशुओंमें स्वतःसिद्ध वाणीका निरोध होता है, ऐसा वाणीका निरोध होना ही असंप्रज्ञात समाधिकी पहली भूमिका है। बालक तथा मूढ़की समान मननभाव होना दूसरी भूमिका है, तंद्रामें स्थित पुरुषकी समान अहङ्काररहित होना यह तीसरी भूमिका है, सुषुप्ति की समान महत्तत्व (बुद्धि) रहितपना यह चौथी भूमिका है। इन चारों भूमिकाओंका क्रमसे अभ्यास करनेके अभिप्राय से "शनैः शनैरुपरमेत्" (धीरे धीरे उपरामको प्राप्त होय) ऐसा कहा है। धीरे २ उपराम पानेमें सात्विक धृतिसे वशमें करी हुई बुद्धि कारण है। जैसे दोनों किनारोंसे बहती हुई महानदीके वेगको रोकना बड़ा ही परिश्रमसाध्य है, ऐसे ही महत्तत्व, अहंकार, मन, तथा तीव्र वेगसे बाहरी विषयोंमेंको बहनेवाली वाणी आदि इंद्रियोंके निरोधमें भी महान् धैर्यकी आवश्यकता है। 'शनैः शनैः' इस पीछे कहे हुए भगवद्गीताके श्लोकमें बुद्धि शब्दको विवेक अर्थमें कहा है।

पहली भूमिकाको जय होगया है या नहीं हुआ है, इसकी परीक्षा करके, यदि होगया हो तो दूसरी भूमिकाका आरम्भ करदेय और यदि पहली भूमिकाका जय न हुआ हो तो उस ही भूमिकाको वशमें करनेके लिये बार बार अभ्यास करे।

ऊपर कहा हुआ 'शनैः शनैः' श्लोक पूर्वार्द्ध है, इस श्लोकका उत्तरार्ध यह है-

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

आत्मामें मनको स्थिर करके किसी भी विषयका चिन्तवन न करे। यह उत्तरार्ध चौथी भूमिकाके स्वरूपको दिखाता है। श्रीगौड़-पादाचार्यने कहा है, कि-

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति॥
लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरं चित्तमेकी कुर्यात्प्रयत्नतः॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥

काम तथा विषयोंमें विक्षेप पायेहुए मनका उपायसे निग्रह करै तथा सुषुप्तिमें यद्यपि चित्त आयासरहित होता है, तथापि उसका उस सुषुप्तिमेंसे निग्रह करै, क्योंकि—जैसे काम अनर्थका हेतु है तैसे ही लय भी अनर्थका ही हेतु है। सब द्वैतप्रपञ्च दुःखरूप है, इस बातको स्मरण रखकर मनको विषयभोगसे रोकै, सब जन्मरहित ब्रह्मरूप है इस बातको स्मरण रख कर योगी द्वैतमात्रको देखता ही नहीं है। सुषुप्तिमें लय पाये हुए चित्तको जगावै और कामभोगमें विक्षेप पाये हुए चित्तको फिर शान्त करै, कषाययुक्त चित्तको पहचानै और समता पायेहुए चित्तको चलायमान न होने देय, समाधिकालमें जो सुख होता है उसमें आसक्त न होय किन्तु विवेकबुद्धिसे असङ्ग रहै। निश्चल और बाहर न निकलनेवाले चित्तको प्रयत्न करके आत्माके साथ एकरूप करदेय। जब चित्त फिर लय न पावे, विक्षेप भी न पावे तथा कषाय और रसके स्वादसे रहित होय तब वह ब्रह्मरूपको प्राप्त होता है।

चित्तकी चार अवस्थायें होती हैं—लय, विक्षेप, कषाय और समप्राप्ति। तिसमें निरुद्ध किया हुआ चित्त, विषयसे अलग होकर यदि पहले अभ्यासके कारणसे सुषुप्तिकी ओरको जाने लगे तो उसको जगानेका प्रयत्न करके अथवा लयके कारणोंको रोककर सम्यक् प्रकारसे जाग्रत् करे। पूरी न हुई निद्रा, अजीर्ण, अधिक भोजन और परिश्रम ये चित्तके लय होनेके कारण हैं, कहा है, कि—

समाराध्य निद्रां सुजीर्णाल्पभोजी
श्रमत्यागशीलो विविक्ते प्रदेशे ।
सदासीत निस्तृष्ण एषाऽप्रयत्नोऽथवा-
प्राणरोधो निजाभ्यासमार्गात् ॥

जो सहजमें पच जाय उतना भोजन करनेवाला तथा परिश्रमको त्यागनेवाला पुरुष नियमित निद्रासे तृष्णारहित तथा प्रयत्नरहित होकर सदा एकान्त स्थानमें स्थित रहे अथवा जैसा अभ्यास किया हो उसके अनुसार प्राणायाम करे ।

लयमेंसे जगायाहुआ चित्त प्रतिदिन जाग्रत् अवस्थाके अभ्यासके कारण यदि काम तथा भोगनेंको जाकर विक्षिप्त पावे तो विवेकी पुरुष साक्षात् अनुभव कियेहुए भोगके पदार्थोंमेंके दुःखोंका वारंवार स्मरण करके तथा शास्त्रप्रसिद्ध जन्मादि विकारोंसे रहित अद्वितीय ब्रह्म वस्तुका स्मरण करता हुआ भोगके पदार्थोंमें ध्यान न लगाकर चित्तको विक्षेपोंसे वारंवार शान्त करे । तीव्र रागद्वेषकी वासनारूप कषाय चित्तका एक बड़ाभारी दोष है । इस तीव्र वासनाके वशमें हुआ चित्त किसी २ समय दुःखमें ही ऐसा एकाग्र होजाता है, कि-मानो समाधिमें स्थित है । इसलिये ऐसे चित्तको उस कृत्रिम समाधिसे हटाकर पहिचाने कि-यह चित्त समाधिमें स्थित नहीं है, किन्तु तीव्र वासनाके कारण दुःखमें एकाग्र होगया है । ऐसा समझकर लय और विक्षेपकी समान कषायको भी दूर करनेका उपाय करे । सम शब्द ब्रह्मका वाचक है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

सब प्राणियोंमें समरूपसे स्थित ईश्वर है । ऐसा भगवद्गीतामें कहा है । लय, विक्षेप तथा कषायको दूर करदेने पर चित्त ब्रह्मरूप होकर रहता है । ऐसे चित्तको कषाय तथा लयकी भ्रान्तिसे चलायमान न होने देय । सूक्ष्म बुद्धिसे लय तथा कषायके स्वरूपको पहचान कर चित्तको बड़े प्रयत्नके साथ चिरकाल पर्यन्त ब्रह्ममें स्थापन करे, ऐसा करनेसे ब्रह्मानन्द प्रकट होता है ।

श्रीभगवद्गीतामें कहा है, कि—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

जो आत्यन्तिक सुख है वह बुद्धिसे ग्रहण कियाजाता है और अतीन्द्रिय है । श्रुति भी ऐसा ही कहती है-

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

समाधिसे रागादि दोषरहित हुए तथा आत्मामें स्थिरताके साथ स्थापन करे हुए चित्तमें जिस सुखका उदय होता है उस सुखका वर्णन उस समय वाणीसे नहीं किया जा सकता, उस सुखको केवल अन्तःकरण ही ग्रहण करता है।

(शङ्का)-इस श्रुति तथा स्मृतिमें, समाधिसे प्रकट होनेवाले ब्रह्मसुखका बुद्धिसे ग्रहण होता है, यह बात कही है और गौड़पादाचार्य तो "नास्वादयेत्सुखं तत्र" (समाधिमें सुखका स्वाद न लेय) इस वाक्यमें कहते हैं कि-समाधिकालके ब्रह्मसुखको बुद्धि ग्रहण नहीं करसकती। इसलिये आचार्यके वचनका श्रुति स्मृतिके साथ विरोध होता है।

(समाधान)-गौड़पादाचार्यके कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि-समाधिसुख बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य नहीं है, किन्तु समाधिमेंसे जागृत होनेके अनन्तर समाधिसुखका स्मरण-जो कि समाधिका विरोधी है तथा जिसको रसास्वाद कहते हैं उसका निषेध किया है जैसे गरमियोंके दिनमें मध्याह्नकालके समय गङ्गाजी धारामें गोता लगानेवाला पुरुष उस समय शीतलताके सुखका अनुभव करता है तथापि उसको मुखसे कह नहीं सकता परन्तु जलमेंसे निकलने पर कहता है। तथा जैसे सुषुप्ति अवस्थामें स्थित पुरुष, अतिसूक्ष्म अविद्यारूप वृत्तिसे स्वरूपसुखका अनुभव करता है तथापि अन्तःकरण की सविकल्प वृत्तिसे उसका ग्रहण नहीं होसकता, क्योंकि-उस समय वृत्तियें अविद्यामें लय पाचुकी हैं, परन्तु जागने पर उस सुखका स्मरण होता है, इसप्रकार ही समाधिमें, वृत्ति रहित अथवा केवल चित्तका संस्कारमात्र शेष रहनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म चित्तके द्वारा सुखका अनुभव होता है ऐसा श्रुति स्मृतिमें कहा है और श्रीआचार्य तो, समाधिमेंसे जागजानेपर 'आहा मैंने समाधिके बड़े भारी सुखका अनुभव किया' ऐसे योगशास्त्रमें रसास्वाद नामसे कहेजानेवाले स्मरणका निषेध करते हैं। इसी अभिप्रायको ही जतानेके लिये "नास्वादयेत्" इस पादके अनन्तर "निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्,"(धैर्यसे वशमें की हुई बुद्धिके द्वारा समाधिसुखको स्मरण तथा वाणीसे उसका और आगेको कथनरूप आसक्तिको त्याग करदेय) इस पादको कहा है। पूर्वोक्त धैर्यसे वश

में कोईई बुद्धिरूप साधनाके द्वारा समाधिसुखका स्मरण तथा और आगेको उसका प्रकट करना रूप आसक्ति अथवा सविकल्प ज्ञानके साथकी आसक्तिको त्यागदेय।

समाधिके समय ब्रह्मानन्दमें मग्न हुआ चित्त, यदि किसी समय विषयसुखका स्वाद लेनेके लिये अथवा डंड, पवन वा मच्छर आदिके उपद्रवके कारणसे बाहरको निकले तो उस चित्तको फिर उद्योग करके परमात्मामें एकरूप करदेय। एकरूप करनेका साधन निरोधरूप प्रयत्न है। "यदा न लीयते" इससे एकाभावको स्पष्ट करदिया है "नालिङ्गनमनायासम्" इन दो पदोंसे कषाय और सुखके आस्वादनका निषेध किया है।

इसप्रकार पीछे कहे हुए लय, विक्षेप, कषाय और सुखास्वादसे मुक्त हुआ चित्त निर्विघ्नतासे ब्रह्ममें स्थिरता पाजाता है। इसी अभिप्रायसे कठवल्ली उपनिषद्की श्रुतिमें कहा है, कि—

> यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
> बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥
> तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्॥
> अप्रमत्तस्तथा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

जब मनके सहित पांच ज्ञानेन्द्रियें स्थिरता पाजाती हैं तथा बुद्धि भी व्यापाररहित होजाती है, उस अवस्थाको परमोत्तम गति कहते हैं। इन्द्रियोंकी स्थिर धारणाको शास्त्रमें योग कहा है, इस अवस्थाको पाजानेसे पुरुष प्रमादरहित और धैर्यवान् होजाता है। योग ही वृत्तिकी उत्पत्ति और नाश है अर्थात् उपेक्षा कियाहुआ योग इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको उत्पन्न करता है और उक्तप्रकारसे साधा हुआ योग इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका लय करता है।

इसलिये भगवान् पतञ्जलि योगका यह लक्षण कहते हैं, कि—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है। चित्तकी वृत्तियें अनेकों हैं, उन सबका निरोध कैसे होसकता है? इस शङ्काको दूर करनेके लिये यह सूत्र कहा है—"वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च" क्लेशरूप और अक्लेशरूप पांच वृत्तियें हैं। राग द्वेष आदि क्लेशकी कारणरूप आसुरी वृत्तियोंको क्लेशरूप समझो और राग आदि दोषोंसे रहित वृत्तियोंको अक्लिष्ट समझो ये सब वृत्तियें पांच वृत्तियोंके ही भीतर आजाती हैं। इनमेंसे केवल

क्लिष्ट वृत्तियें ही निरोध करनेके योग्य हैं, इस मन्दबुद्धिकी शङ्का को दूर करनेके लिये क्लिष्ट वृत्तियोंके साथ ही अक्लिष्ट वृत्तियोंको भी कह दिया है अर्थात् निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करनेकी इच्छा वाले पुरुषको दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध करना चाहिये। वृत्तियोंके नाम और लक्षणोंसे उनके स्वरूपको स्पष्ट बतानेवाले पतञ्जलि भगवान्के छः सूत्र हैं—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।
प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥
विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥
अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।
अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच प्रकारकी वृत्तियें हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण वृत्तियें हैं। अपने मुख्य अर्थमें स्थित न रहनेवाले अर्थात् जानेका बाधित होजाने वाले मिथ्याज्ञानको विपर्यय कहते हैं। शब्दमात्रसे जिसका ज्ञान होता है परन्तु उस शब्दके अनुसार अर्थ नहीं होता है वह विकल्प कहलाता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोंके अभावकी कारण और तमोगुण जिसका विषय है उस वृत्तिको निद्रा कहते हैं। अनुभव कियेहुए विषयका, संस्कारके उठनेसे मानसिक ज्ञान होना स्मृति कहलाती है।

इन पांचों वृत्तियों के निरोधका साधन बतानेवाला यह सूत्र है-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तियें रुकती हैं। जैसे तीव्र वेगवाली नदीके प्रवाहको पुल बांधकर रोकदेते हैं तब उसमेंसे नहर निकाल कर उसके एक प्रवाहको खेतकी ओरको बहनेवाला कर सकते हैं, ऐसे ही चित्तरूप नदीके विषयोंकी ओरको बहतेहुए प्रवाहको वैराग्य से रोक कर समाधिके अभ्याससे उसका एक शान्त प्रवाह बहाया जा सकता है।

(शङ्का)-मंत्रजप, देवताका ध्यान आदि क्रियारूप हैं, इसकारण उनकी बार २ आवृत्तिरूप अभ्यास होसकता है, परन्तु जिसमें सब ही व्यापार रुकजाते हैं ऐसी समाधिका अभ्यास कैसे होसकता है ?

(समाधान)-पतञ्जलिका सूत्र है कि—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।

चित्तकी एकाग्रताके लिये वारंवार उत्साहके साथ प्रयत्न करना, अभ्यास कहलाता है। चित्तमें व्युत्थान संस्कार अनादिकालसे चले आरहे हैं, इसकारण वे बड़े ही दृढ़ हैं, वर्त्तमानकालमें चित्तके निरोध के लिये कियाहुआ अभ्यास उनको कैसे दबा सकता है ? इस शङ्का को दूर करनेवाला यह सूत्र है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ।

वह अभ्यास चिरकाल निरन्तर आदरके साथ किया जाय तो दृढ़तासे जम जाता है इस विषयमें लोग मूढ़ पुरुषका यह प्रमाण देते हैं, कि—एक मूढ़ पुरुषने अपने पुत्रको वेद पढ़नेके लिये भेजा। उसको पांच दिन बीत गये तब उस पुरुषने विचार किया, कि-वेद तो केवल चार ही हैं और मेरे पुत्रको गये पांच दिन होगये, परन्तु वह अभी तक पढ़ कर न जाने क्यों नहीं आया ? ऐसे ही जो योगी कुछ गिने हुए दिन या महीनेमें योग सिद्धिकी आशा रखता हो तो उसको भी ऊपरके मूढ़ पुरुषकी समान ही जानना चाहिये। इस लिये बहुतसे महीने, वर्ष तथा अनेकों जन्मों तक अर्थात् जबतक फल न मिले तबतक योगका सेवन करना चाहिये, उत्साहहीन नहीं होना चाहिये. इसलिये ही भगवान् गीतामें कहते हैं, कि—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।

अनेकों जन्मोंमें अभ्यास करके सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष परम गतिको पाता है। योगसेवन चिरकाल बहुतसे महीनों वा वर्षों तक करे, परन्तु एक दिन करे और पांच दिनको छोड़देय इसप्रकार चिरकाल तक भी योगका अभ्यास करता रहे तो उसका कुछ फल नहीं होता है, क्योंकि-बीचमें जितना समय खाली जाता है उस समय में उभरेहुए व्युत्थान संस्कारोंसे निरोधसंस्कार दबजाता है, उससे-

अग्रे धावन् पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशील-
श्रुतवत् किमालम्बेत ।

भूलजानेके स्वभाववाले विद्यार्थीकी समान जो आगेको पढ़ता है और पीछेका भूलता जाता है वह क्या फल पा सकता है ? इस खण्डनकारके कहेहुए न्यायके अनुसार घटना होगी। इसलिये निरन्तर योगका सेवन करना चाहिये और वह भी आदरके साथ करना

चाहिये, अनादरके साथ योगका सेवन करनेमें वशिष्ठजीका बताया अवसर आजायगा—

अकर्तृ कुर्वदप्येतच्चेतश्चेत्क्षीणवासनम्।
दूरङ्गतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा ॥

जैसे जिस कथा सुननेवालेका चित्त कथाको छोड़कर और और बातोंमें भटकता फिरता है, इस कारण वह कथाको सुनता हुआ भी नहीं सुनता है ऐसे ही यदि चित्त वासनाओंसे रहित होजाता है तो वह आवश्यक व्यवहार करता रहने पर भी कुछ भी नहीं करता है।

लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद जो समाधिके विघ्न रूप हैं, उनमेंसे कोई भी समाधिके समय प्रकट होजाय तो उसको रोकनेके लिये प्रयत्न न करना योगका अनादर करना है, इसलिये उनको रोकनारूप आदरसे योगका सेवन करना चाहिये। चिरकाल पर्यन्त निरन्तर आदरके साथ सेवन किया हुआ योग दृढ़ होजाता है, यह पहले कहचुके हैं। विषयसुखकी वासनासे अथवा दुःखकी वासना से चित्त समाधिमेंसे चलायमान न हो यही योगकी दृढ़ता है। यह बात भगवान् कृष्णने गीतामें भी दिखायी है-

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

वृत्तिकी निरोध अवस्थाको पाकर योगी उससे बढ़ कर और किसी लाभको नहीं मानता, जिस अवस्थामें स्थित होजाने पर शस्त्र प्रहार आदिके बड़भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता है।

समाधिसे बढ़कर और कोई लाभ नहीं है, यह बात भगवान् वशिष्ठजीने कचके इतिहासमें स्पष्ट रूपसे कही है-

कचः कदाचिदुत्थाय समाधेः प्रीतमानसः।
एकान्ते संक्षुब्धाचेदमेवं गद्गदया गिरा ॥
किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्
आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥
स बाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वञ्च दिक्षु च।
इत आत्मा तथेहात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि।

किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ॥
स्फारब्रह्मामलाम्भोधिफेनाः सर्वे कुलाचलाः ।
चिदादित्यमहातेजोमृगतृष्णा जगच्छ्रियः ॥

एक समय रामने समाधिमेंसे जागकर प्रसन्न चित्तसे एकांत में गद्गद् वाणीसे इसप्रकार कहा-जैसे महाप्रलयके समय सब विश्व जलसे भराहुआ होता है, ऐसे ही यह विश्व आत्मासे पूर्ण है इस लिये मैं क्या करूं ? कहां जाऊँ ? क्या लूं ? क्या छोडूं ? अर्थात् एक ही वस्तुमें ये सब बातें नहीं हो सकतीं । देहके बाहर, भीतर, ऊपर नीचे सब दिशाओंमें सर्वत्र आत्मा ही है, संसारमें ऐसा कोई स्थान है ही नहीं जहां आत्मासत्ता न हो, जहां मैं न होऊँ ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, तथा जो मुझमें नहीं है ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है, इसलिये मैं और कौनसी वस्तुकी इच्छा करूं ? सब चैतन्यमय है, सब पर्वत निःसीम ब्रह्मरूप महासागरके झागोंके ढेरोंकी समान हैं, चैतन्य सूर्यके महान् तेजके भीतर यह जगत्‌रचना मृगतृष्णाकी समान है ।

योगी महान् दुःख पड़ने पर भी चलायमान नहीं होता है, यह बात राजा शिखिध्वजकी तीन वर्षकी समाधिके वृत्तान्तसे स्पष्ट प्रतीत होती है ।

निर्विकल्पसमाधिस्थं तत्रापश्यन्महीपतिम् ।
राजानं तावदेतस्माद् बोधयामि परात्पदात् ॥
इति संचित्य चूडाला सिंहनादं चकार सा ।
भूयो भूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम् ।
न चचाल तदा राम यदा नादेन तेन सः ॥
भूयोभूयः कृतेनापि तदा सा तं व्यचालयत् ।
चालितः पातितोऽप्येप तदा नो बुबुधे बुधः ॥

चूड़ालाने अपने पति शिखिध्वजको निर्विकल्प समाधिमें बैठे हुए देखकर विचार किया कि-राजा जो परमपदमें लीन होरहा है, इस को मैं इसमेंसे जगाऊँ तो अच्छा है, ऐसा विचार कर वह बार २ सकल वनचरोंको भय देनेवाली सिंहकीसी गर्जना करनेलगी, तथापि वह समाधिमेंसे जागा नहीं, तब चूड़ालाने उसको जोरसे हिलाया तथा नीचे गिरादिया, तब भी नहीं जागा ।

प्रह्लादकी कथा भी इस ही भावको प्रकट करती है—

इति सञ्चिन्तयन्नेव प्रह्लादः परवीरहा ।
निर्विकल्पपरानन्दसमाधिं समुपाययौ ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थश्चित्रार्पित इवाबभौ ।
पञ्चवर्षसहस्राणि पीनाङ्गोऽतिष्ठदेकदृक् ॥
महात्मन् संप्रबुध्यस्व त्वेवं विष्णुरुदाहरत् ।
पाञ्चजन्यं प्रदध्मौ च ध्वनयन् ककुभाङ्गणम् ॥
महता तेन शब्देन वैष्णवप्राणजन्मना ।
बभूव संप्रबुद्धात्मा दानवेशः शनैः शनैः ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रह्लादने ऐसा विचार करके परम आनन्दस्वरूप निर्विकल्प समाधिमें स्थितकी, इस समाधिमें स्थित होने पर प्रह्लाद चित्रमें स्वेहुएसे शोभा पारहे थे। एक आत्मारूप लक्ष्यमें दृष्टि लगाकर पांच सहस्र वर्ष पर्यन्त समाधिमें रहे तब भी उनका शरीर हृष्ट पुष्ट ही रहा, तदनन्तर विष्णु भगवान् उनके पास आकर कहने लगे, कि-हे महात्मन्! जाग जाओ तब भी वह नहीं जागे, तब सब दिशाओंको शब्दसे भर देनेवाले पाञ्चजन्य नामक शंखको बजाया, इस श्रीविष्णुके प्राणवायुसे उत्पन्न हुए महाशब्द से दानवपति प्रह्लाद धीरे २ जागगये। ऐसे ही वीतहव्यकी समाधि के दृष्टान्तको भी समझो।

वैराग्य दो प्रकारका है-एक पर और दूसरा अपर। इनमें अपर वैराग्य के चार भेद हैं-यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, और वशीकार इस चार प्रकारके वैराग्यमें पहिले तीनप्रकारके वैराग्यको तात्पर्यसे और चौथेको साक्षात् रूपसे बताने वाला यह सूत्र है-

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

देखेहुए और सुनेहुए विषयकी तृष्णासे रहित पुरुषकी उस विषय में जो उपेक्षाबुद्धि होती है उसको वशीकार नामका वैराग्य कहते हैं। माला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, घर, क्षेत्र आदि दृष्ट विषय हैं। केवल वेद आदि शास्त्रमें वर्णन कियेहुए विषय सुने हुए हैं। इन विषयोंमें तृष्णा होने पर विवेककी न्यूनता अधिकताके कारण वैराग्यके यतमान आदि तीन भेद होते हैं। इस संसारमें सार क्या है? और असार क्या है? यह बात मुझे गुरु तथा शास्त्रसे अवश्य जाननी

चाहिये, इस बातको विचार कर ऐसा ही उद्योग करे, इसका नाम यतमान वैराग्य है। विवेकका अभ्यास करनेसे पहले मुझमें जो जो दोष थे, उनमेंसे इस समय विवेकका अभ्यास करने पर इतने दोष क्षीण होगये हैं और इतने शेष रहे हैं। ऐसे विवेकको व्यतिरेक वैराग्य कहते हैं। देखे और सुनेहुए विषयोंमें प्रवृत्त होने से दुःख होता है ऐसा समझ कर उस प्रवृत्तिका त्याग करदेने पर मनमें कुछ एक तृष्णाका अंश शेष रहजाता है इसको एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं और केवल तृष्णाभावको वशीकार वैराग्य कहते हैं। यह चार प्रकार का वैराग्य अष्टाङ्ग योगमें प्रवृत्ति कराता है। इसलिये यह संप्रज्ञात अपर समाधिका अन्तरङ्ग साधन है तथा असंप्रज्ञात समाधिका बहिरङ्ग साधन है। असंप्रज्ञात समाधिके अन्तरङ्ग साधनारूप पर वैराग्य का वर्णन करनेवाला यह सूत्र है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।

आत्माका साक्षात्कार होजानेसे तीनोंगुण और उनके कार्योंमें तृष्णारहित होजानेका नाम पर वैराग्य है। इस वैराग्यमें न्यूनता अधिकता होजानेके कारणसे समाधिकी शीघ्रतामें जो न्यूनाधिकता होती है उसको भगवान् पतञ्जलि कहते हैं, कि-

तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभः ।

वैराग्यके भेदसे तीन प्रकारके योगी होते हैं-मृदुवैराग्यवाले मध्यम वैराग्यवाले और तीव्र वैराग्यवाले, इनमें तीव्र वैराग्यवालेकी समाधि थोड़े ही समयमें सिद्ध होजाती है।

तीव्र वैराग्यवालोंमें भी समाधिसिद्धिके समयमें न्यूनाधिकताको बतानेवाला यह सूत्र है—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ।

मृदुतीव्र वैराग्यवालेको शीघ्रतासे समाधि प्राप्त होती है, मध्यतीव्र वैराग्यवालेको उससे भी शीघ्रतासे और अधिमात्र तीव्र वैराग्यवाले को तो उससे भी शीघ्रतासे समाधिका लाभ होता है। उत्तमोत्तम जनक प्रह्लाद आदिको मुहूर्त्तमात्र विचार करनेसे समाधिका लाभ होगया था, इसलिये उनको अत्यन्त तीव्र वैराग्यवाला समझना चाहिये। अधममें अधम उद्दालक आदि को मृदु वैराग्यवाला जानो, क्योंकि—उनको बड़े परिश्रमसे समाधिकी प्राप्ति हुई थी, ऐसे ही और भी समझलो। इसप्रकार अत्यन्त तीव्र वैराग्य वाले पुरुषको अत्यन्त दृढ़ असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होजाने से

फिर व्युत्थान (जागृति) पानेसे अशक्त हुआ मन नष्ट होजाता है। मनका नाश होनेसे वासनाक्षयकी रक्षा होती है और ऐसा होनेसे जीवन्मुक्ति स्थिर होजाती है मनके नाशसे विदेहमुक्ति सिद्ध हो जाती है, जीवन्मुक्ति सिद्ध नहीं होती है ऐसी शङ्का न करना, क्योंकि-योगवासिष्ठमें रामजी और वसिष्ठजीके प्रश्नोत्तरसे जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा निर्णय होता है, रामने कहा-

विवेकाभ्युदयाच्चित्तस्वरूपेऽन्तर्हिते मुने ।
मैत्र्यादयो गुणाः कुत्र जायन्ते योगिनां वद ॥

हे मुने ! विवेकका उदय होनेसे चित्तके स्वरूपका नाश होजाता है इसलिये योगियोंमें जब चित्त ही नहीं रहता तो मुदिता आदि गुण काहेमें रहेंगे ? । वसिष्ठजीने उत्तर दिया, कि—

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः ॥
प्राकृतं गुणसंभारं ममेति बहु मन्यते ।
सुखदुःखाद्यवष्टब्धं विद्यमानं मनो विदुः ॥
चेतसः कथिता सत्ता मया रघुकुलोद्वह ।
अस्य नाशमिदानीं त्वं शृणु प्रश्नविदांवर ॥
सुखदुःखादयो धीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निःश्वासा इव शैलेन्द्रं तस्य चित्तं मृतं विदुः ॥
आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्द्यं महोत्सवः ।
यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं मनो विदुः ॥
चित्तनाशाभिधानं हि यदा नश्यति राघव ।
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं तदा सत्त्वमुदेत्यलम् ॥
भूयो जन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ।
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥
अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तो रघूद्वह ।
विदेहमुक्तावेवासौ विद्यते निष्कलात्मकः ।
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ।
विदेहमुक्तावमले पदे परमपावने ।

संशान्तदुःखमजडात्मकमेकरूप-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमो यत् ।
आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्त-
स्तस्मिन् पदे गलितचित्तलवा वसन्ति ॥
जीवन्मुक्ता न मुह्यन्ति सुखदुःखरसस्थितौ ।
प्राकृतेनार्थकारेण किञ्चित्कुर्वन्ति वा न वा ॥

चित्तका नाश दो प्रकारका होता है-एक स्वरूपनाश (जिसमें सूक्ष्म स्वरूप रहे ऐसा नाश) और दूसरा अरूपनाश (निःशेषनाश जीवन्मुक्ति दशामें चित्तका सरूप नाश होता है और विदेहमुक्ति दशामें अरूपनाश होता है । जिस समय मन प्रकृतिके गुणोंको और उनके कार्योंको ममत्वबुद्धिके साथ आसक्तिसे सेवन करता है और इसकारण ही जब सुख दुःख आदिसे युक्त होता है तब उस मनको विद्यमान जानो । हे राम ! यह तो मैंने तुमसे चित्तकी विद्यमानता कही, अब उसके नाशको सुनो-जैसे मुखमेंका श्वास पर्वतको नहीं हिला सकता, ऐसे ही सुखका समय वा दुःखका समय जिसके चित्तकी सौम्यावस्थाको नहीं डिगा सकता, उस विवेकी पुरुषके चित्तको मरा हुआ जानो । आपत्ति, कृपणता, उत्साह, मद, मन्दता और महोत्सव जिसके रूपको नहीं बदल सकते अर्थात् हर्ष शोक आदि जिसको वश में नहीं कर सकते उसके चित्तको मरा हुआ जानो । तृष्णा ही जिस का स्वरूप है ऐसे चित्तका जब नाश होजाता है तब मैत्री आदि गुणों से युक्त सत्त्वका उदय होता है ऐसे मैत्री आदि गुणोंसे युक्त जीवन्मुक्त पुरुषका चित्त पुनर्जन्म रहित होजाता है।जीवन्मुक्त पुरुषके चित्त की ऐसी अवस्था होती है, इसको सरूपचित्तनाश कहते हैं । हेराम ! मैंने जो तुमसे अरूप चित्तनाश कहा वह विदेहमुक्ति दशामें ही होता है । इस समय चित्तका जरासा अंश भी शेष नहीं रहता है । विदेहमुक्तिमें समग्र मैत्री आदि उत्तमगुणोंवाला चित्त भी परमपावन और निर्मल परमात्माके स्वरूपमें ही लीन होजाता है, जिस पदमें कोई भी दुःख नहीं है, जो चैतन्यरूप और सदा एकरूप है, जिसमें रजोगुण और तमोगुण हैं ही नहीं तथा जो आनन्दसे भरपूर है ऐसे पदमें जिन के चित्तका नाश हुआ है ऐसे शरीररहित हुए तथा आकाशकी समान सूक्ष्म महात्मा पुरुष सदा निवास करते हैं । जीवन्मुक्त पुरुष

सुख दुःखकी दशामें मोहमें नहीं पड़ते हैं, प्रारब्धवश कुछ करते हैं और कुछ नहीं करते। इसलिये स्वरूप मनोनाश जीवन्मुक्तिका साधन है, यह बात सिद्ध होगयी।

जीवन्मुक्तिविवेकमें मनोनाश नामका तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ

अथ स्वरूपसाधनप्रयोजन प्रकरण

यह जीवन्मुक्ति क्या पदार्थ है? इसमें प्रमाण क्या है? और उस की सिद्धि कैसे होती है? इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर दिया जाचुका अब जीवन्मुक्ति सिद्ध होजानेपर कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है? इस चौथे प्रश्नका उत्तर कहते हैं-ज्ञानकी रक्षा, तप, विसम्वादाभाव कहिये विवादकी निवृत्ति, दुःखकी निवृत्ति और सुखका उदय ये पांच जीवन्मुक्तिके प्रयोजन हैं।

(शङ्का)-महावाक्य रूप प्रमाणसे उत्पन्न हुए तत्वज्ञानमें बाधा डालनेवाला तो कोई है नहीं, यदि कोई श्रुतिसे प्रबल प्रमाण होय तो उससे तत्वज्ञानमें बाधा पड़े, परन्तु श्रुतिसे बलवान् प्रमाण तो कोई है ही नहीं, इसलिये महावाक्यकी श्रुतिसे उत्पन्न हुए तत्वज्ञानकी रक्षा करनेकी क्या आवश्यकता है?

(समाधान)-तत्वज्ञान होजाने पर भी जबतक चित्तशान्ति नहीं होती है तबतक संशय और विपर्यय होजानेका संभव है। श्रीरामजी को तत्वज्ञान होगया था तो भी चित्तको विश्राम होनेसे पहले संशय उत्पन्न होगया था, यह बात योगवाशिष्ठमें प्रसिद्ध है। विश्वामित्र कहते हैं, कि—

न राघव तवास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर।
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवानसि॥
भगवद्व्यासपुत्रस्य शुकस्येव मतिस्तव।
विश्रान्तिमात्रमेवात्र ज्ञातज्ञेयाप्यपेक्षते॥

हे रामजी! अब आपको जाननेके लिये कुछ भी शेष नहीं रहा है अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे तुम सब कुछ जान चुके हो परन्तु भगवान् व्यासजीके पुत्र शुकदेवकी समान, जानने योग्यको जान चुकने पर भी तुम्हारी चित्तवृत्तिको विश्रान्तिमात्र प्राप्त होनेकी आवश्यकता है।

श्रीशुकदेवजीने तो अपने आप ही तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मैंने जो कुछ जाना है वह सत्य है वा मिथ्या है, ऐसा संशय होने पर अपने पिता व्यासजीसे बूझा तब उन्होंने भी अपने आप जो कुछ जाना सो कह दिया, तथापि संशय दूर नहीं हुआ, इस कारण राजा जनकके पास जाकर प्रश्न किया, तब उन्होंने भी वही उपदेश दिया, तब तो उन्होंने जनकसे यह बात कही थी-

स्वयमेव मया पूर्वमेतज्ज्ञातं विवेकतः ।
एतदेव च पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥
भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदांवर ।
एष एव च वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥
यथाऽयं स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात् ।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चयः ॥
तत्किमेतन्महाबाहो सत्यं ब्रूहि ममाचलम् ।
त्वत्तो विश्राममाप्नोति चेतसा भ्रमता जगत् ॥

पहले मैंने अपने आप ही विवेकसे यह जान लिया था, अपने पिताजीसे भी मैंने यही प्रश्न किया था, तब उन्होंने भी मुझे यही उत्तर दिया था. हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ जनकजी! आपने भी यही बात कही है। यह विकल्पनीय तथा निःसार संसार अपने ही अन्तःकरणमें से प्रकट होगया है और यह अन्तःकरणका क्षय होनेसे नष्ट होजाता है, ऐसा ही निश्चय शास्त्रोंमें भी देखते हैं. इसलिये यह जगत् क्या है? मेरा यह संदेह जिस प्रकार नष्ट हो सो कहो, इस भ्रान्त चित्तका घुमाया हुआ मैं आपके वचनसे विश्राम पाऊँगा, जनकजीने इसके उत्तरमें कहा. कि-

नातः परतरः कश्चिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ॥
अव्युच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।
स सङ्कल्पवशाद्बद्धो निःसङ्कल्पस्तु मुच्यते ॥
तेन त्वया स्फुटं ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः ।
भोगेभ्यो विरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह ॥

प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।
न दृश्ये पतसि ब्रह्मन् मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥
अनुशिष्टः स इत्येवं जनकेन महात्मना ।
विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि ॥
वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः ।
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमनिन्दितम् ॥
तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।
दश स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥

हे मुने ! यहां सर्वत्र पूर्ण, अद्वितीय, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है, उससे सिवाय और कोई वस्तु नहीं है, जीव केवल अपने संकल्पसे ही बँधा हुआ है और जब संकल्परहित होता है तब मुक्त होजाता है, इसके अतिरिक्त और कोई निश्चय नहीं है, तुमने स्वयं ही इस बातको जानलिया है और फिर गुरुसे भी सुन लिया है तुम महात्मा हो, तुमने अपनी ज्ञेय वस्तुको यथार्थ रूपसे जान लिया है, क्योंकि-सब भोगसे अथवा सकल दृश्य पदार्थोंसे तुम्हें विराग प्राप्त होगया है, तुम पूर्ण चित्तवाले हो, सब प्राप्तव्य वस्तुओंको तुमने पालिया है, अब तुम दृश्यमें नहीं पड़ते हो अर्थात् दृश्यमात्रमें तुच्छबुद्धि होनेसे उधर तुम्हारा ध्यान नहीं जाता है, इसलिये भ्रान्तिको त्याग दो इसप्रकार महात्मा जनकके उपदेश देने पर शुकदेवजी निर्विकार परमात्मवस्तुमें मौनभावको धारण करके विश्रामको प्राप्त होगये । जिनका शोक भय तथा आयास दूर होगया है, जिनको किसी प्रकार की इच्छा नहीं है तथा जिनके संशय छिन्न होगये हैं ऐसे शुकदेवजी समाधिके लिये समाधिके प्रतिकूल दोषोंसे रहित सुमेरुके शिखरपर गये । वहां दशहजार वर्षतक निर्विकल्प समाधिमें बैठे रहे, फिर जैसे तेल निबड़ जाने पर दीपक सामान्य अग्निमें शान्त होजाता है, ऐसे ही उस स्वरूपमें शान्त होगये ।

इसलिये आत्मस्वरूपका ज्ञान होजाने पर भी जिसका चित्त-विश्रामको नहीं प्राप्त हुआ है उस पुरुषको श्रीशुकदेवजीकी समान और रामचन्द्रजीकी समान संशय उत्पन्न होजाता है और वह अज्ञान की समान ही मोक्षमें बाधक होता है इसलिये श्रीभगवान्‌ने कहा है, कि—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

अज्ञानी, श्रद्धाहीन अर्थात् विपर्ययवाला और संशयवाला पुरुष नष्ट होजाता है, संशयात्माका न यह लोक बनता है, न परलोक बनता है तथा उसको सुख भी नहीं मिलता।

अश्रद्धाका अर्थ है विपर्यय। इस बातको आगे दृष्टान्त देकर बतावेंगे। अज्ञान और विपर्यय मोक्षमात्रके विरोधी हैं तथा संशय तो भोग और मोक्ष दोनोंका ही विरोधी है, क्योंकि-संशय परस्पर विरुद्ध दो कोटियोंका अवलम्ब लेकर उदय होता है, इस कारण जब संशयवाला पुरुष संसारके सुखमें प्रवृत्ति करता है उस समय मोक्षमार्गकी बुद्धि उसको सुखकी ओर जानेवाली प्रवृत्तिको रोकती है और जब मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करता है तब उसको सांसारिक बुद्धि रोकती है, इसलिये संशयवाले पुरुषको किसी प्रकारका सुख मिलता ही नहीं, अतः मुमुक्षु पुरुषको सर्वथा संशयोंको काट डालना चाहिये। "छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" यह श्रुतिवाक्य भी, आत्मसाक्षात्कार होनेसे संशयोंका छेदन होजाता है, ऐसा कहती है।

विपर्ययके विषयमें निदाघका दृष्टान्त है-ऋभुनामके मुनिने केवल कृपादृष्टिसे निदाघके घर आकर उसको अनेकों प्रकारसे समझाया और फिर वहांसे चलेगये, परन्तु निदाघके अन्तःकरणमें उनके उपदेश कियेहुए ज्ञानमें श्रद्धा न हुई, इसकारण 'कर्म ही परम पुरुषार्थका हेतु है' ऐसी विपरीत बुद्धिके कारण वह ज्ञानके उपदेशसे पहले जिस प्रकार कर्मकिया करते थे तैसे ही कर्म करने लगे। 'मेरा शिष्य परम पुरुषार्थसे भ्रष्ट न होजाय तो अच्छा है' ऐसा विचारकर ऋभुने फिर निदाघके घर आकर उपदेश दिया, तो भी निदाघकी विपरीत बुद्धि दूर न हुई। तब गुरुने तीसरी बार आकर उपदेश दिया तब निदाघका विपर्यय दूर हुआ तथा अन्तमें उन्होंने विश्राम पाया। संशय कि जिसको असंभावना कहते हैं और विपर्यय कि जिसको विपरीत भावना कहते हैं ये दोनों चित्तकी विश्रान्तिरूपको तत्त्वज्ञानके फलको उत्पन्न नहीं होने देते हैं। श्रीपराशर मुनिने कहा है, कि

मणिमंत्रौषधैर्वन्हिः सुदीप्तोऽपि यथेन्धनम् ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात्प्रतिबद्धस्तथैव च ॥
ज्ञानाग्निरपि सञ्जातः प्रदीप्तः सुदृढोऽपि च ।

प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात्प्रतिबद्धस्तु कल्मषम् ॥
भावना विपरीता या या चाऽसंभावना शुक ।
कुरुते प्रतिबन्धं सा तत्त्वज्ञानस्य नाऽपरम् ॥

जैसे जलती हुई अग्निको भी मणि, मन्त्र और औषधोंसे बांध-दिया जाय तो वह काष्ठको नहीं जला नहीं सकती, ऐसे ज्ञानरूप अग्नि चाहे जितनी अधिकतासे प्रज्वलित हो यदि उसमें प्रतिबन्ध (रुकावट) पड़जाय तो वह अज्ञान आदि दोषोंको भस्म नहीं कर सकती असंभावना और विपरीत भावना ही तत्त्वज्ञानका प्रतिबन्ध करती हैं और कोई पदार्थ ज्ञानका प्रतिबन्ध नहीं करसकता ।

इस लिये जिसके चित्तको विश्राम प्राप्त नहीं हुआ है उसको संशय विपर्ययके प्रतिबन्धसे ज्ञानकी रक्षा करनेकी अपेक्षा है और जिसका चित्त विश्रान्तिको पा गया है उसके लिये तो मनोनाश से जगत्का ही लय होगया है इसकारण संशय विपर्ययका अवसर ही नहीं आ सकता। जगत्की प्रतीतिसे रहित ब्रह्मज्ञानी पुरुषका शारीरिक व्यवहार भी किसी प्रकारका प्रयत्न किये विना परमात्मा के प्रेरणा किये हुए प्राणवायुसे ही हुआ करता है। छान्दोग्य उप-निषद्में कहा है, कि—

नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ।

ब्रह्मज्ञानी पुरुषको मनुष्योंके समीपमें खड़े हुए अपने शरीरका भान नहीं होता है, समीपमें खड़ेहुए मनुष्य ही उसके शरीरको देखते हैं। स्वयं तो अमनभावको प्राप्त होनेके कारण उसको 'यह मेरा शरीर है, ऐसा भान ही नहीं होता है। जैसे गाड़ी अथवा रथमें जोता हुआ बैल वा घोड़ा अपने कामकी उत्तमताके साथ शिक्षा पाया हुआ होनेके कारण सारथीके एकवार मार्गमेंको चलादेने पर फिर वह सारथीकी प्रेरणाके विना अपने आप ही रथ गाड़ी आदि को आगेके ग्राममें लेजाता है, ऐसे ही इस प्राणवायुको भी परमे-श्वरने इस शरीरके वाहनरूपसे जोडदिया है, इस कारण यह जीव का प्रयत्न हो चाहे न हो उसके व्यवहारका निर्वाह करता है । भागवतमें कहा है-

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा ।

सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतम्,
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥

जैसे मदिराके मदसे अन्धाहुआ पुरुष, अपनी कमरसे लपेटाहुआ वस्त्र तहां ही है या गिरगया, इस बातको नहीं जानसकता, ऐसे ही योगी पुरुष भी मेरा नाशवान् शरीर प्रारब्धकर्मवश आसनसे उठा है, उठ कर तहां ही स्थित है या तहांसे दूसरे स्थानको चलागया है अथवा फिर लौटकर अपने आसन पर आ बैठा है, इस बातको नहीं जानता है, क्योंकि-वह अपने देहादिसे भिन्न स्वरूपको पा गया है। वशिष्ठ जी भी कहते हैं-

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम् ।
आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदक्षताः ॥

जैसे निद्रामेंसे जागा हुआ पुरुष अपना पहलासा व्यवहार करने लगता है ऐसे ही पास रहनेवाले मनुष्यका जगायाहुआ योगी अपने पहले आचरणके अनुसार ही आचरण करता रहता है ।

(शङ्का)-पहले श्लोकमें कहा था कि-योगी अपने शरीरको नहीं देखता है और इस श्लोकमें कहा है, कि--वह सोकर जागेहुए पुरुष की समान सब व्यवहार करता है, इसप्रकार दोनों श्लोकों का अर्थ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है ।

(समाधान)—दोनों की विश्रान्तिमें न्यूनाधिकता होनेके कारण कुछ विरोध नहीं रहता । जीवन्मुक्त पुरुषकी चित्तविश्रान्तिमें न्यूनाधिकता है, इस तात्पर्यको लेकर श्रुति कहती है—

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।

यह जीवन्मुक्त पुरुष आत्मामें ही क्रीड़ा करनेवाला, आत्मामें ही अनुरागवाला, क्रियावान् और ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है ।

इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि-योगी चार प्रकारके हैं-ब्रह्मवित् ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ । योगकी सात भूमिकाओंमें चौथी भूमिकासे सातवीं भूमिका पर्यन्तमें पहुँचेहुए योगियोंकी क्रमशः ये संज्ञा हैं अर्थात् चौथी भूमिकावाला ब्रह्मवित्, पांचवीं भूमिकामें स्थित ब्रह्मविद्वर, छठी भूमिकावाला ब्रह्मविद्वरीयान् और सातवीं भूमिकामें पहुँचाहुआ योगी ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है । ये सातों भूमिकायें वशिष्ठजीने दिखायी हैं-

ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात्प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥

शुभेच्छा पहली ज्ञानभूमिका है, विचारणा दूसरी भूमिका है, तनुमानसा, तीसरी सत्त्वापत्ति चौथी, असंसक्ति पांचवीं, पदार्थाभाविनी छठी और तुरीया सातवीं भूमिका है इनके लक्षण ये हैं—

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सद्विचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसा॥
भूमिका त्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात्।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम्।
पदार्थाभाविनी नाम षष्ठी भवति भूमिका॥
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात्।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥

मैं मूढकी समान क्यों बैठा हूँ? गुरुदेव तथा सत् शास्त्रकी सहायतासे मैं अपने स्वरूपको देखूँ तो ठीक होगा, ऐसी वैराग्य आदि साधनसम्पत्ति सहित इच्छा शुभेच्छा नामवाली पहली भूमिका कहलाती है। गुरुसेवा और अपने धर्ममें तत्पर रहकर श्रवण मनन में लगे रहना सुविचारणा नामकी दूसरी भूमिका कहलाती है।

शुभेच्छा और विचारणाके परिपाकसे मनकी इतनी सूक्ष्मता होजाय, कि-इन्द्रियें विषयोंको ग्रहण न करें अर्थात् सविकल्प समाधि प्राप्त होजाय तब तनुमानसा नामकी तीसरी भूमिका प्राप्त हुई समझो तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे बाहरी विषयोंमें अत्यन्त उपराम हो जानेसे चित्तकी शुभ अर्थात् माया और उसके कार्योंसे रहित सत्त्व स्वरूप आत्मामें त्रिपुटीके लयके साथ निर्विकल्प समाधिरूपसे जो स्थिति होती है वह सत्त्वापत्ति नामवाली चौथी भूमिका है। चारों भूमिकाओंके अभ्यासके बाहरी और भीतरी विषयोंके सङ्गसे रहित तथा समाधिके परिपाकसे बढ़े परमानन्दस्वरूप ब्रह्मके साक्षात्कार वाली चित्तकी अवस्था असंसक्ति नामवाली पांचवीं भूमिका है। पांचों भूमिकाओंके अभ्याससे आत्मामें परतरति होजानेके कारण बाहर और भीतरके पदार्थोंकी जिसमें प्रतीति न हो ऐसी अन्तःकरणकी अवस्था पदार्थाभाविनी नामकी छठी भूमिका है। छहों भूमिकाओंके चिरकाल पर्यन्त अभ्याससे जब प्रयत्न करने पर भी भेद प्रतीत नहीं होता है और चित्त केवल स्वरूपमें ही स्थिति करके रहता है उसको तुरीया नामकी सातवीं भूमिका जानो।

इन सात भूमिकाओंमें पहली तीन भूमिकायें ब्रह्मविद्याकी साधनरूप हैं, परन्तु ब्रह्मविद्याकी कोटिमें नहीं गिनीजाती, क्योंकि-तीन भूमिकाओं पर्यन्त भेदमेंकी सत्यत्वबुद्धि नहीं मिटती है, इसलिये पहली तीन भूमिकाओंको जाग्रत् अवस्था कहते हैं। वशिष्ठजी कहते हैं, कि-

> भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्थितम्।
> यथावद्भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते॥

हे राम! ये तीन भूमिकायें जाग्रत् अवस्थारूप हैं, यह बात ठीक है, क्योंकि-यह विश्व यथायोग्य भेदबुद्धिके कारण जाग्रत् अवस्था में दीखता है।

इन तीन भूमिकाओंको जीत लेने पर वेदान्तवाक्यके द्वारा प्रत्यक् आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका निर्विकल्प साक्षात्कार होना सत्त्वापत्ति नामकी फलरूप चौथी भूमिकाके साधक, जब जगत्के विवर्त्त उपादान कारणरूप ब्रह्मके वास्तविक अद्वितीय सत्तारूप स्वभावका निश्चय करके ब्रह्ममें आरोपण कियेहुए, जगत् नामसे कहेजानेवाले नामरूपके मिथ्यापनेको जानता है। मुमुक्षुकी पहले कहीहुई जाग्रत्

अवस्थाकी अपेक्षा यह भूमिका स्वप्नरूप मानीजाती है। वशिष्ठजी कहते हैं कि—

अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकामिताः॥
विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते।
स्वस्वेतरश्च सन्मात्रं यत्प्रबोधादुपासते।
योगिनः सर्वभूतेषु सद्रूपान्नौमि तं हरिम्।
सत्तावशेष एवास्ते चतुर्थीं भूमिकामितः॥

अद्वैतके स्थिर होजाने पर और द्वैतके शान्त होजाने पर चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए जो योगी जगत्को स्वप्नकी समान देखते हैं तथा जिनका, छिन्नभिन्न होकर बिखरे हुए शरद् ऋतुके मेघोंके टुकड़ोंकी समान 'यह मैं हूँ और यह मुझसे भिन्न है' ऐसा भेद विलीन होजाता है और जिनसे प्राप्त हुए ज्ञानके द्वारा मुमुक्षु पुरुष केवल सद्वस्तुकी ही उपासना करते हैं, वे सब प्राणियोंमें सत्‌रूपसे स्थित योगी साक्षात् हरिरूप ही हैं उनको मैं प्रणाम करता हूँ चौथी भूमिकाको प्राप्त हुए योगी केवल सत्तारूप ही शेष रहजाते हैं।

इस चौथी भूमिकाको पायाहुआ योगी ब्रह्मवित् कहलाता है। पांचवीं, छठी और सातवीं भूमिका जीवन्मुक्तिके ही अवान्तर भेद हैं। ये भेद निर्विकल्प समाधिके बलसे होनेवाली विश्रांतिकी न्यूनाधिकताके कारण हुआ करते हैं।

पांचवीं भूमिकामें स्थित योगी निर्विकल्प समाधिमेंसे अपने आप ही जागजाता है। यह योगी ब्रह्मविद्वर कहलाता है। छठी भूमिकामें रहनेवाला योगी,पास रहनेवाले मनुष्योंके जगाने पर जागता है,वह ब्रह्मविद्वरीयान् कहलाता है। ये दो भूमिकायें क्रमसे सुषुप्ति और गाढ़ सुषुप्ति कहलाती हैं। वह कहते हैं—

पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम्।
शान्ताशेषविशेषांशास्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके॥
अन्तर्मुखतया नित्यं बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन्।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिवलक्ष्यते॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः।

षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ॥
अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति केचन ।
समं ब्रह्म न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यो कुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥

सुषुप्ति पद नामकी पाँचवीं भूमिकाको पाकर जिसके सब भेदरूप अंश दूर होगये हैं ऐसा पुरुष केवल अद्वैत स्वरूपमें स्थिति करके रहता है, वह बाहर वृत्तिसे व्यवहार करता हुआ भी सदा अन्तर्मुख होनेके कारण थकाहुआसा तथा नित्य निद्रालुसा प्रतीत होता है। इस भूमिकाका अभ्यास करते २ वासनारहित हुआ वह योगी क्रमसे गाढसुषुप्ति नामकी भूमिकाको पाता है। जिसमें वह न सत्रूप है न असत्रूप है, न अहङ्कारसहित है और न अहङ्काररहित है केवल मननरहित हुआ वह पुरुष द्वैत तथा अद्वैतसे पृथक् होकर रहता है। कितने ही द्वैतको चाहते हैं और कितने ही अद्वैतको चाहते हैं, परन्तु सर्वत्र सम ब्रह्म जो द्वैत अद्वैत दोनोंसे रहित है उसको नहीं जानते हैं। आकाशमें खाली घड़ेकी समान वह भीतर तथा बाहरसे शून्य है तथा समुद्रमें भरेहुए घड़ेकी समान भीतर तथा बाहरसे पूर्ण है।

गाढ निर्विकल्प समाधिको पायेहुए केवल संस्काररूपसे शेष रहे हुए चित्तमें मनोराज्य करनेकी वा बाहरके पदार्थोंको ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं रहती, इसकारण वह आकाशमें रक्खेहुए घड़ेकी समान बाहर तथा भीतरसे शून्य होता है और स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्ममें निमग्न हुआ मन, भीतर और बाहर सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होनेके कारण समुद्रके भीतर धरेहुए जलसे भरे घड़ेकी समान बाहर और भीतर पूर्ण होता है। सातवीं भूमिकामें पहुँचेहुए योगीका अपने आप या दूसरेके प्रयत्नसे उत्थान होता ही नहीं, ऐसे योगीके लिये ही 'देहञ्च नश्वरमवस्थितम्' इत्यादि भागवतका पूर्वोक्त वाक्य है। असंप्रज्ञात समाधिका वर्णन करनेवाले योगशास्त्रकी इस भूमिका पर पहुँच कर समाप्ति होजाती है। ऐसे योगीको पीछेकी श्रुतिमें ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा है। इसप्रकार 'पार्श्वस्थबोधितः' यह वचन

तथा "त्रिशो न पश्यति" यह वचन क्रमसे छठी और सातवीं भूमिकाओंमें स्थित योगीके स्वरूपको बताते हैं, इसलिये इन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध नहीं है । इस सबका सार संग्रह यह है, कि-पांचवीं छठी तथा सातवीं भूमिकारूप जीवन्मुक्तिको प्राप्त करनेसे द्वैतका प्रतिभास न होनेके कारण संशय और विपर्ययका उदय नहीं होता इसकारण तत्त्वज्ञानकी निर्बाधरूपसे रक्षा होजाती है, ज्ञानरक्षा ही जीवन्मुक्तिका प्रथम प्रयोजन है । जीवन्मुक्तिका दूसरा प्रयोजन तप है, योगकी भूमिकाओंसे देवयोनि आदिकी प्राप्ति होती है, इस कारण यह तपःस्वरूप है । उसका तपःस्वरूप होना अर्जुन और भगवान् कृष्णके तथा राम और वशिष्ठजीके सम्वादसे प्रतीत होता है । अर्जुन कहता है, कि-

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

योगसे ही मोक्ष है, ऐसा श्रद्धावाला होने पर भी जो समाधिके लिये प्रयत्न नहीं करता है तथा मरणसमयमें जिसका मन योगसे चलायमान अर्थात् योगसे भ्रष्ट होगया है वह पुरुष योगके फलको न पाकर हे कृष्ण ! कौनसी गतिको पाता है ? ब्रह्ममार्ग कहिये योग निष्ठामें मूढ़ और ज्ञान तथा कर्म इन दोनोंसे किसीका भी अवलम्बन न रखनेवाला वह पुरुष उभयभ्रष्ट होनेके कारण मेघमण्डलमेंसे जुदा हुए बादलकी समान कहीं नष्ट तो नहीं होजाता है ? हे कृष्ण ! इस मेरे सन्देहको निःशेषरूपसे आप ही काट सकते हैं आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस सन्देहको दूर करनेवाला नहीं है । भगवान् इसका उत्तर देते हैं, कि—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥

हे अर्जुन ! उसका इस लोकमें तथा परलोकमें विनाश नहीं होता है, क्योंकि-हे तात ! कोई सत्कर्मका करनेवाला दुर्गति नहीं पाता है, पुण्य कर्म करनेवालोंके उत्तम लोकोंको पाकर तथा तहां असंख्यों वर्षों तक रहकर योगभ्रष्ट पवित्र श्रीमान्के घर जन्म धारण करता है अथवा बुद्धिमान् योगियोंके ही कुलमें जन्म पाता है, क्योंकि-संसार में ऐसा जन्म पाना बड़ा ही दुर्लभ है, उस योगीके कुलमें पूर्वदेहसे संबन्ध रखनेवाले ज्ञानरूप उत्तम उपायको पाजाता है और फिर ज्ञानकी यथार्थ सिद्धिके लिये उद्योग करने लगता है ।

श्रीराम कहते हैं-

एकामथ द्वितीयाम्वा तृतीयां भूमिकामुत ।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन् गतिः ॥

पहली, दूसरी अथवा तीसरी भूमिकामें पहुँच कर मरणको प्राप्त हुए योगीकी हे भगवन् ! कैसी गति होती है ? । वशिष्ठजीने उत्तर दिया, कि-

योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुरा कृते ।
भोगक्षयपरिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
तत्र प्राग्भावनाऽभ्यस्तं योगभूमित्रयं बुधः ॥
दृष्ट्वोपरितनात्युच्चैरुत्तमं भूमिकाक्रमम् ॥

जिस प्राणीका किसी योगभूमिकाका अभ्यास करते २ शरीरपात होजाता है, उसके पहले पापका भूमिकाकी साधनाके अनुसार क्षय

होता है, फिर वह अप्सराओंके साथ देवताओंके विमानमें बैठकर लोकपालोंके नगरोंमें तथा मेरु पर्वतके उपवनोंमें और कुञ्जोंमें क्रीड़ा करता है। फिर भोगका क्षय होजाने पर पहले पुण्योंके क्षय और पापका क्षय होजानेके कारण पवित्र गुणवान्, लक्ष्मीवान् सत्पुरुषोंके सुरक्षित घरोंमें वह योगी जन्म धारण करता है। तहां पूर्व जन्ममें अभ्यासकी हुई तीन भूमिकाओंका स्पर्श करके आगेकी भूमिकाओं का यत्न पूर्वक अभ्यास करता है।

(शङ्का)-इसप्रकार योगकी भूमिकायें देवलोक प्राप्त होनेका कारण हैं, यह बात सत्य है, परन्तु उनके तपःस्वरूप होनेमें क्या प्रमाण है?

(समाधान)-उनके तपःस्वरूप होनेमें तैत्तिरीय उपनिषद्की श्रुति का प्रमाण है—

तपसा देवा देवतामग्र आयंस्तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्।

पहले देवताओंने तपसे देवभावको पाया और ऋषियोंने तपसे स्वर्ग को पाया। तत्त्वज्ञान होनेसे पहले की तीन भूमिकायें जब तपरूप हैं तो तत्त्वज्ञान होजानेके अनन्तर निर्विकल्प समाधिरूप पांचवीं छठी और सातवीं भूमिकाके तपरूप होनेमें कहना ही क्या है? इस लिये ही स्मृतिमें कहा है-

मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥

मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परमतप है। यह तप सब धर्मों से श्रेष्ठ है और परम धर्मरूप है।

यद्यपि इस न्यायसे तपके द्वारा प्राप्त होने योग्य जन्मान्तर नहीं है तथापि लोकसंग्रहके लिये एकाग्रताको तप कहा है। भगवान्ने भी कहा है-

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि॥

लोकशिक्षापर ध्यान रख कर तुझे कर्म करना चाहिये। विपरीत मार्गसे बचा कर सन्मार्गमेंको लेजाने योग्य लोग तीन प्रकारके होते हैं-शिष्य, भक्त और तटस्थ। शिष्य विषयोंसे विरक्त अपने गुरुदेव में बड़ा विश्वास रखता है, इसलिये वह गुरुके उपदेश पर परम श्रद्धा रखता है, इसकारण उसका चित्त शीघ्र ही विश्राम पाजाता है। श्रुति भी कहती है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

जिसकी परमात्मदेवमें परम भक्ति होती है और तैसी ही भक्ति गुरुदेवमें भी होती है उस महात्माको यह कहे हुए पदार्थ सहजमें ही हृदयङ्गम होजाते हैं । स्मृति भी कहती है-

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

श्रद्धावान् इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला तथा सद्गुरुकी सेवा करनेवाला पुरुष ज्ञानको पाता है और ज्ञान पाकर थोड़े ही समयमें शांति को पाजाता है ।

अन्न देना ठहरनेको स्थान देना आदिसे योगीकी सेवा करनेवाला पुरुष उसके तपको लेलेता है। श्रुति कहती है—

तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम् ।

उसके पुत्र वा शिष्य उसके दाय (सम्पत्ति) को पाते हैं, उसके मित्र उसके पुण्यको लेते हैं और उसके शत्रु उसके पापको पाते हैं। तटस्थ भी दो प्रकारके होते हैं-एक आस्तिक और दूसरे नास्तिक। आस्तिक, योगीके सन्मार्गके आचरणको देखकर आप भी सन्मार्गमें को चलने लगते हैं । स्मृति कहती है-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा २ आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी तैसा ही तैसा आचरण करते हैं और वह जिस बातको प्रमाणरूप मानते हैं दूसरे लोग भी तैसा ही मानते हैं ।

नास्तिक पुरुष भी योगीकी दृष्टि पड़ने पर पापसे मुक्त होजाता है । कहा है, कि—

यस्यानुभवपर्यन्ता तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्त्तते ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥

जिसकी बुद्धि साक्षात्कार पर्यन्त तत्त्वमें पहुँचजाती है, उसकी दृष्टि पड़ते ही सब जीव सकल पापोंसे मुक्त होजाते हैं । इसप्रकार

योगी सब प्राणियोंके उपकारी हैं, इस ही अभिप्रायको लेकर नीचे श्लोक कहे हैं—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्तावनि-
र्यज्ञानाञ्च सहस्रमिष्टमखिला देवाश्च संपूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ,
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिल्लीनं परब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

जिसका मन क्षणभरको भी ब्रह्मविचारमें स्थिरताको पागया है, उसने सब तीर्थोंमें स्नान करलिया, सब भूमिका दान दे लिया, सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करलिया, सब देवताओंका पूजन करलिया संसारसे अपने पितरोंका उद्धार करलिया, वही पुरुष तीनों लोकोंमें पूजनीय है। अपार ज्ञान तथा सुखके समुद्ररूप इस परब्रह्ममें जिस का चित्त लीन होगया है, उसका कुल पवित्र है, उसकी माता कृतार्थ है और उस पुरुषसे सब पृथिवी पुण्यवाली है।

योगीका केवल शास्त्रीय व्यवहार ही तपरूप नहीं है किन्तु उसका सब लौकिक व्यवहार भी तपरूप ही है। तैत्तिरीय शाखाको पढ़ने वाले अपनी शाखाके पहिले अनुवाकसे विद्वान्की महिमाका वर्णन करते हैं। इस अनुवाकके पहले भागमें योगीके अवयवोंको यज्ञके अद्भुत द्रव्यरूपसे वर्णन किया है—

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी शरीर-मिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयम् यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत्

इसप्रकार जाननेवाला पुरुषरूप यज्ञका आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर समिधा है, वक्षःस्थल वेदी है, लोम दर्भ (कुशा) है, शिखा वेद है, हृदय यूप (यज्ञस्तम्भ) है, काम घृत है, क्रोध पशु है, तप अग्नि है, दम शमयिता नामका पुरुष है, वाणी होता है प्राण उद्गाता है, चक्षु अध्वर्यु है, मन ब्रह्मा है और श्रोत्र अग्नीध्र है।

यहां दान दक्षिणा है, वह अध्याहारसे समझलेना चाहिये क्योंकि सामवेदी—"अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य

दक्षिणा" अर्थात् जो उसका तप, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्य-वचन है वह सब इसकी दक्षिणा है। ऐसा कहते हैं। इस अनुवाकमें मध्यभागसे योगीके व्यवहार और उसकी जीवनकलाको ज्योतिष्टोम यज्ञके अवयवरूप क्रियाके द्वारा तथा और उसके आगेके सब भागसे यज्ञके अवयवरूप क्रियाके स्वरूपसे कहा है।

यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति, तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत्सञ्चरत्युप-विशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो, या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं, यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायञ्च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि, य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथ इति।

जहां तक योगी जीवित रहता है तहां तक उसकी दीक्षा है, वह जो कुछ भोजन करता है वही उसका हवि है, जो कुछ पीता है वह सोमपान है, जो विहार करता है वह उपसद् है, जो फिरता है बैठता तथा उठता है वह प्रवर्ग्य है, मुख ही उसका आह्वनीय है, बोलना आहुति है, उसका ज्ञान ही होम है वह प्रातःकाल और सायंकालके समय जो कुछ भोजन करता है वह समिधा है उसका जो प्रातःकाल मध्याह्न और सायङ्काल है वही सवन है, रात्रिदिन ही दर्श पूर्णमास नामका याग है, पक्ष और मास ही चातुर्मास्य है, ऋतुएं ही पशुबन्ध हैं, सम्वत्सर और परिवत्सर ही अहर्गण है, जिसमें सर्वस्व दक्षिणा है ऐसा यह आयु ही सत्र है और योगीका जो मरण है वही अवभृथ स्नान है।

ऊपरके अनुवाकमें एतत् शब्दके द्वारा अहोरात्रसे लेकर परिवत्सर-पर्यन्त सम्पूर्ण कालके समूहसे कहा जासकनेवाला योगीका आयुः-काल कहा अर्थात् उसका सब आयु सर्वस्वदक्षिणायुक्त सत्ररूप है, यह अभिप्राय समझना चाहिये। अगले अनुवाकमें अन्तिमभाग से सर्वयज्ञस्वरूप योगीको कार्यब्रह्म तथा कारणब्रह्मरूप सूर्यचन्द्र को अभेदरूप क्रममुक्ति नामका जो फल मिलता है उसके विषयमें कहा है-

एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रं य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नो-त्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वान-भिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषद्।

जरा मरण पर्यन्त जो योगीका चरित्र है, वह अग्निहोत्रसे लेकर संवत्सरसत्र पर्यन्त कर्मस्वरूप है। इसप्रकार उपासना करनेवाला पुरुष उत्तरायणमें वा दक्षिणायनमें मरनेपर देवताओंकी अथवा पितरोंकी महिमाको पाकर अपनी भावनाकी दृढ़ताके लिये सूर्य चन्द्रमाके साथ एकरूपताको पाता है और यदि भावना मंद हो तो सूर्यचन्द्रमाके लोकको पाता है। उस लोकमें वह विद्वान् ब्राह्मण सूर्य चन्द्रमाकी विभूतिका अनुभव करता है, फिर चतुर्मुख ब्रह्माकी महिमाको पाता है, तहां उसको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है, तदन-न्तर वह सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मकी कैवल्यरूपामहिमाको पाता है 'इत्युपनिषद्' यह पद पूर्वोक्त विद्याका वर्णन करनेवाले ग्रन्थकी समाप्तिको सूचित करता है। इसप्रकार जीवन्मुक्तिका तपरूप दूसरा प्रयोजन सिद्ध हुआ।

जीवन्मुक्तिका तीसरा प्रयोजन है विवादका अभाव। अन्तर्मुख होनेके कारण बाहरी व्यवहारको न देखनेवाले योगीके साथ कोई लौकिक मनुष्य वा सांप्रदायिक मनुष्य विवाद नहीं करता है। विवाद दो प्रकारका होता है—एक कलहरूप और दूसरा निन्दारूप। जिस को क्रोध आदि नहीं होता ऐसे योगीके साथ लौकिक मनुष्य कलह कैसे कर सकता है? नहीं करसकता। योगीका क्रोध आदिसे रहित होना स्मृतिमें भी कहा है—

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन॥

कोई क्रोध करे तो उसके बदलेमें क्रोध न करे और यदि कोई निन्दा करे तो भी उससे यही कहे, कि—तेरी कुशल हो, कोई मर्यादासे बाहर बोले तो उसको क्षमा करे और किसीका अपमान न करे।

(शङ्का)-विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्तिसे पहले है, उससे पहले तत्त्वज्ञान है और उससे भी पहले विविदिषा संन्यास है। इस विविदिषा संन्यासमें ही क्रोध आदिका त्याग करदेना चाहिये, फिर जीवन्मुक्ति दशामें क्रोधरहितपना आदि धर्मोंको स्मृति क्यों कहती है ?

(उत्तर)-तुम्हारा कहना ठीक है, वास्तवमें जीवन्मुक्ति दशामें तो क्रोध आदि की शङ्का भी नहीं होनी चाहिये। जब सबसे पहले विविदिषा संन्यासमें ही क्रोध आदि नहीं होने तब उत्तम पद तत्त्वज्ञानके प्राप्त होजाने पर तो वे होंगे ही कहाँसे? और विद्वत्संन्यासमें तो उनका संभव ही नहीं है, फिर जीवन्मुक्तिमें तो अत्यन्त ही असंभव है, इसलिये योगीके साथ लौकिक मनुष्यका कलह करना नहीं बन सकता, तथा निन्दारूप विवादकीभी शङ्का नहीं हो सकती स्मृति कहती है कि-

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स वै यतिः ॥

जिसको कोई उत्तम जातिका या अधम जातिका नहीं जानता है मूर्ख या विद्वान् नहीं जानता है तथा सदाचारी या दुराचारी नहीं जानता है वही यति है।

सांप्रदायिक पुरुष भी क्या शास्त्रमें वर्णन किये हुए विषयमें विवाद करते हैं ? अथवा क्या योगीके चरित्र के विषयमें विवाद करते हैं ? सांप्रदायिक पुरुष तो उसके साथ विवाद करते ही नहीं हैं, क्योंकि-योगी किसीके संप्रदायकी शास्त्रमें लिखी बातको दोष नहीं लगाते हैं, क्योंकि-

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ ।
नानुध्यायेद्बहून्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

उस एक आत्माको ही जानो और सब बातों को छोड़ दो, बहुत से शब्दोंका ध्यान भी मत करो, क्योंकि-ऐसा करनेमें केवल वाणी को परिश्रम ही होता है। इत्यादि उपदेशके अनुसार चलता है तथा वह योगी अपने शास्त्रके सिद्धान्तको भी किसी के सामने सिद्ध नहीं करता है, क्योंकि-

पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥

जैसे अन्नके प्रयोजनवाला अन्नको निकाल कर भुसीको फेंक देता है, ऐसे ही समग्र ग्रन्थको त्याग देय, परब्रह्मको जानकर फिर उल्काकी समान उसको भी त्यागदेय।

योगी ऐसी २ श्रुतियोंके उपदेश पर चलता है। जब प्रतिवादीको भी अपना आत्मारूप देखता है तब उसके साथ विवादमें वाद ही क्या करेगा? केवल लोकायतिक नामक चार्वाक को छोड़कर शेष सब ही सम्प्रदायोंके पुरुष योगीके चरित्रके विषयमें विवाद नहीं करसकते, क्योंकि-आर्हत (जैन), बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, शैव, वैष्णव, शाक्त और सांख्य योग आदि के शास्त्रोंमें प्रतिपादित विषयका भेद होने पर भी मोक्षके साधन यम नियम आदि योगके आठ अङ्गोंका अनुष्ठान तो सब संप्रदायोंमें एक ही प्रकारका है। इस प्रकार योगीके साथ कोई विवाद न होनेके कारण योगीश्वर सर्वसंमत है। इस ही अभिप्रायको लेकर वशिष्ठजीने कहा है—

यस्येदं जन्म पश्चात्यं तमाश्वेव महामते।
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्॥
आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता मुक्तता ज्ञता।
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाङ्गनाः॥
पेशलाचारमधुरं सर्वे वाञ्छन्ति तं जनाः।
वेणुं मधुरनिर्ध्वानं वने वनमृगा इव॥
सुषुप्तिवत्प्रशमितभाववृत्तिना,
　　स्थितः सदा जाग्रति येन चेतसा।
कलान्वितो विधुरिव यः सदा बुधै-
　　र्निषेव्यते मुक्त इतीह सः स्मृतः॥

हे महामते! जिसका यह अन्तका जन्म होता है उस पुरुषमें, जैसे उत्तम बांसमें मोती रहते हैं तैसे ही सब निर्मल विद्यायें प्रवेश करके रहती हैं, जैसे स्त्रियें अन्तःपुरमें रहती हैं तैसे ही आर्यपना, मनोहरता मैत्री, सौम्यता, मुक्तपना तथा ज्ञानीपना सदा उसका आश्रय करके रहते हैं। जैसे मधुर स्वरवाली बांसुरीके शब्दको वनमें रहनेवाले मृग चाहते हैं ऐसे ही सुन्दर आचरणके कारण प्रिय लगनेवाले योगीको सब लोग चाहते हैं। सुषुप्तिमें स्थित पुरुष की समान विषयाकार वृत्तिके शान्त होजाने पर भी जो चित्तसे सदा जाग्रत्

अवस्थामें स्थित है। जैसे कलावान् चन्द्रमाका सब लोग सेवन करते हैं, ऐसे ही विद्वान्पुरुष जिसका सेवन करते हैं वह इस जगत् में मुक्त कहलाता है।

मातरीव शमं यान्ति विषमाणि मृदूनि च।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि।
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च।
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते॥

जैसे माताके पास सबही शांति पाते हैं ऐसेही कोमल और कठोर सबही स्वभावोंवाले पुरुष शम वाले पुरुषके पास जाकर शांति पाते हैं और उसका विश्वास करते हैं। तपस्वियोंमें, अधिक ज्ञानवालोंमें यज्ञ करने करानेवालोंमें, राजाओंमें, बलवानोंमें और गुणवानोंमें शांतिवाला पुरुष ही शोभा पाता है।

इसप्रकार अटलरूपसे विवादका अभावरूप जीवन्मुक्तिका तीसरा प्रयोजन सिद्ध होगया।

दुःखका नाशरूप चौथे और सुखका आविर्भावरूप पांचवें प्रयोजनका वर्णन पञ्चदशीके ब्रह्मानन्दान्तर्गत विद्यानन्द नामके चौथे अध्यायमें किया है। इन दोनों प्रयोजनोंका वर्णन यहां संक्षेपमें करते हैं-

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

'यह आत्मा मैं हूँ' इसप्रकार जो कोई जानलेय तो वह पुरुष फिर किसकी इच्छा करता हुआ किसकी कामनाके लिये शरीरको कष्टका अनुभव करावे?। इत्यादि श्रुतिने योगीके इसलोकके दुःखका बिनाश कहा है—

एतँ ह वाव न तपति किमहँ साधु नाऽकरवं
किमहं पापमकरवम्।

मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया? और पाप क्यों किया? ऐसा पछतावा योगीको नहीं होता है। इत्यादि श्रुतियें परलोकके हेतु जो पुण्य और पाप उनकी चिन्तारूप दुःखके नाशको कहती हैं। सुखका आविर्भाव तीन प्रकारसे होता है सकल कामोंकी प्राप्ति कृतकृत्यपना और प्राप्त प्राप्तव्यपना अर्थात् पानेयोग्य पदार्थको पाजाना, सकल

कामोंकी प्राप्ति भी तीन प्रकारकी है-सबका साक्षीपना, सर्वत्र कामनाका विघात न होना और सबका भोक्तापना। हिरण्यगर्भसे लेकर स्थावर पर्यन्त सकल शरीरोंमें जो साक्षी चैतन्य ब्रह्म व्यापा है वही मैं हूँ, इसप्रकार जाननेवाले पुरुषका जैसे अपने शरीरमें सब भोगों का साक्षीपना है ऐसे ही दूसरे के देहमें भी है। इस ही अभिप्रायको श्रुति कहती है-

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।

वह सर्वज्ञ ब्रह्मस्वरूपसे एक समयमें सब भोगोंको भोगता है। जगत्‌में भोगोंको भोगनेके अनन्तर उनमें फिर इच्छा न होना यह कामकी प्राप्ति कहलाती है, इसलिये सब, भोगोंमें दोष देखनेवाले तत्वज्ञानीको किसी पदार्थकी भी इच्छा होती ही नहीं है, इसलिये उसको सब कामोंकी प्राप्ति है ही। इसलिये ही चक्रवर्ती राजासे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त उत्तरोत्तर बराबर सौ २ गुणे आनन्दोंमें "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" अर्थात् कामनाओंसे विघात न पायेहुए तत्वज्ञानी पुरुषको सब आनन्द प्राप्त ही हैं, ऐसा श्रुति कहती है। सत्‌रूप, चित्‌रूप और आनन्दरूपसे सर्वत्र स्थित अपने आत्माका अनुसन्धान करनेवाले योगीको सब भोगोंका भोक्तापना है ही, इस ही अभिप्रायको लेकर श्रुति कहती है. कि-

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नाद।

मैं अन्न (भोग्य) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ। मैं अन्नका भोक्ता हूँ अन्नका भोक्ता हूँ, अन्नका भोक्ता हूँ। योगीका कृतकृत्यपना भी स्मृतिमें कहा, है-

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त हुए तथा कृतकृत्य योगीको योगीके लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है और यदि कुछ कर्त्तव्य है तो वह तत्वज्ञानी ही नहीं है। जिसका आत्मामें ही अनुराग है जो आत्मा में ही तृप्त है और जो आत्मामें ही सन्तुष्ट है उसके लिये कुछ कर्त्तव्य नहीं है।

प्राप्तप्राप्तव्यपना (पानेयोग्य वस्तुको पाचुकना) भी श्रुतिमें कहा

है-"अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" हे जनक ! तू अभयको पागया है "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इसलिये वह सर्वरूप होगया "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होजाता है, इत्यादि ।

(शङ्का)-दुःखका नाश और सुखका आविर्भाव ये दोनों बातें तत्त्वज्ञानसे ही होती हैं, इसलिये ये दोनों तत्त्वज्ञानके प्रयोजन नहीं हो सकते ।

(समाधान)-जैसे पहले ही उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान भी जीवन्मुक्ति से सुरक्षित रहता है, ऐसे ही जीवन्मुक्तिमें दुःखनाश और सुखके आविर्भावकी उत्तमतासे रक्षा होती है, यही कहनेका तात्पर्य है ।

(शङ्का)-यदि जीवन्मुक्तिके पांच प्रयोजन हों तो, समाधिनिष्ठ योगी लोकव्यवहार करनेवाले तत्त्वज्ञानीसे श्रेष्ठ है, ऐसा कहना चाहिये, परंतु रामवशिष्ठके संवादने इस श्रेष्ठपनेका निषेध किया है-

भगवन् भूतभव्येश कश्चिज्ज्ञातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियमे स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् वद ॥

रामने कहा, कि-हे भूत भावोंके नियन्ता भगवन् !, कोई पुरुष समाधिनिष्ठ ज्ञानीकी समान व्यवहार करता हुआ भी विश्रामको प्राप्त है । और कोई पुरुष एकांत देशमें जाकर नियमसे समाधिमें ही स्थित है, इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है यह बात हे भगवन् मुझे बता इये । वशिष्ठदेवने उत्तर दिया, कि—

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तःशीतलता याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥
दृश्यैर्न मम सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित्संव्यवहारस्थः कश्चिद् ध्यानपरायणः ॥
द्वावेतौ राम सुस्थावन्तश्चेत्परिशीतलौ ।
अन्तःशीतलता या स्यात्तदनन्ततपःफलम् ॥

इस गुणोंके कार्य संसारको अनात्म रूपसे देखनेवाले पुरुषके अंतःकरणकी शीतलता समाधि नामसे कही जाती है । दीखनेवाले किसी दृश्यके साथ मेरा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके शांत हुआ कोई पुरुष व्यवहारमें भी स्थित रहता है और कोई पुरुष ध्यानमें ही तत्पर रहता है, हे राम ! यदि अन्तःकरण शीतल हो तो

ने दोनों पुरुष पक्षसे ही हैं, अन्तःकरणकी शीतलता प्राप्त होना अनन्त तपका फल है।

(समाधान)-तुम्हारा कहा हुआ दोष नहीं लगसकता। यहाँ वशिष्ठजीके कथनका केवल इतना ही अभिप्राय है, कि-अन्तःकरणकी शीतलता अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। परन्तु इससे वासनाक्षय होजानेके अनन्तर जो मनोनाश होता है उसकी श्रेष्ठतामें कुछ बाधा नहीं पड़ती। तृष्णाकी शान्ति ही शीतलता है, इस अभिप्रायको वशिष्ठजीने आपही स्पष्ट किया है।

अन्तःशीतलतायान्तु लब्धायां शीतलं जगत्।
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमिदं जगत्॥

जिनके अन्तःकरणको शीतलता मिलगयी है उनके लिये यह सब जगत् शीतल ही है और जिनके अन्तकरण तृष्णासे तपरहे हैं उनको तो यह जगत् वनमें धधकतीहुई आगसा प्रतीत होता है।

(शङ्का)-वशिष्ठजीके वचनोंसे समाधिकी निन्दा और व्यवहार की प्रशंसा भी देखनेमें आती है—

समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद् वृत्तिचञ्चलम्।
तत्तस्य तु समाधानं सममुन्मत्तताण्डवैः॥
उन्मत्तताण्डवस्थस्य चेतश्चेत्क्षीणवासनम्।
तत्तस्योन्मत्तनृत्यन्तु समं ब्रह्मसमाधिना॥

समाधिमें स्थित पुरुषका चित्त यदि वृत्तिसे चञ्चल होय तो उस की समाधि उन्मत्त पुरुषके नृत्यकी समान है और उन्मत्तके नृत्यमें स्थित होय तोभी उसका चित्त वासनारहित है तो उसका उन्मत्तों कैसा नृत्य भी ब्रह्ममें लगी हुई समाधिकी समान है।

(समाधान)-यहां समाधिकी श्रेष्ठताको स्वीकार करके वासना की निन्दाकी है। इन दोनों श्लोकोंका तात्पर्य यह है, कि—यद्यपि व्यवहारसे समाधि श्रेष्ठ है तथापि यदि समाधिमें वासना लगी हुई है तो वह समाधि व्यवहारसे भी अधम है इसलिये उसको समाधि ही नहीं कहा जा सकता। यदि समाधिस्थ और व्यवहार करने वाला दोनों तत्त्वज्ञानी न होनेके कारण वासनायुक्त हैं तो उनमें समाधिस्थ श्रेष्ठ है, क्योंकि—उनकी समाधि उत्तम लोक प्राप्त करानेवाली होनेके कारण पुण्यरूप है अज्ञानीके व्यवहारसे श्रेष्ठ है।

और यदि व्यवहार करानेवाला तथा समाधिस्थ दोनों पुरुष ज्ञाननिष्ठ और वासनारहित हों तो भी वासनाके क्षयरूप जीवन्मुक्तिका पालन करनेवाली यह मनोनाशरूप समाधि श्रेष्ठ ही है। इस प्रकार योगीश्वर श्रेष्ठ हैं, इसलिये पांच प्रयोजन वाली जीवन्मुक्तिमें कुछ भी बाधा नहीं है।

जीवन्मुक्तिनिरूपण—प्रकरण समाप्त.

अथ विद्वत्संन्यासप्रकरण।

अब जीवन्मुक्तिके उपकारी विद्वत्संन्यासका वर्णन करते हैं। विद्वत्संन्यासका वर्णन परमहंसोपनिषद्में किया है। उस उपनिषद्की पाठसहित व्याख्या करेंगे। आदिमें विद्वत्संन्यासके योग्य प्रश्नको उठाते हैं-.

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का परिस्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपगत्योवाच।

परमहंस योगियोंका कौनसा मार्ग है? और उनकी स्थिति क्या है? यह प्रश्न नारदजीने भगवान् ब्रह्माजीके पास जाकर किया।

यहाँ जो 'अथ' शब्द है उसका अर्थ है-'अनन्तर' परन्तु यह प्रतीत नहीं हुआ, कि—किसके अन्तर, तथापि यहाँ विद्वत्संन्यासका प्रश्न होना चाहिये। इस विद्वत्संन्यासमें उसका ही अधिकार है कि-जिसने तत्वज्ञान पालिया है परन्तु सांसारिक व्यवहारोंसे विक्षेप पड़ने पर जो मनकी विश्रान्तिको चाह रहा है। ऐसे अधिकारीको पाजाने के अनन्तर यही उपरोक्त उपनिषद्के आरम्भमें दियेहुए अथ शब्दका अर्थ है। केवल परमहंसका वारण करनेके लिये योगीका ग्रहण किया है तथा केवल योगीका वारण करनेके लिये परमहंसका ग्रहण किया है। केवल योगीको तत्वज्ञान नहीं होता, इसकारण वह त्रिकालकी बात जानलेना, आकाशमें विचरते फिरना इत्यादि योगके आश्चर्यमें डालनेवाले व्यवहारोंमें आसक्त होजाता है और इनमें अनेकों प्रकारके संयमोंसे अपने योगबलको व्यय करने लगता है और ऐसा होनेपर परमपुरुषार्थ मोक्षसे गिरजाता है। इस विषयमें "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" इस सूत्रको पहले ही कहचुके हैं। (केवल

है-"अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" हे जनक ! तू अभयको पागया है "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इसलिये वह सर्वरूप होगया "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होजाता है, इत्यादि।

(शङ्का)-दुःखका नाश और सुखका आविर्भाव ये दोनों बातें तत्त्वज्ञानसे ही होती हैं, इसलिये ये दोनों तत्त्वज्ञानके प्रयोजन नहीं हो सकते।

(समाधान)-जैसे पहले ही उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान भी जीवन्मुक्तिसे सुरक्षित रहता है, ऐसे ही जीवन्मुक्तिमें दुःखनाश और सुखके आविर्भावकी उत्तमतासे रक्षा होती है, यही कहनेका तात्पर्य है।

(शङ्का)-यदि जीवन्मुक्तिके पांच प्रयोजन हों तो, समाधिनिष्ठ योगी लोकव्यवहार करनेवाले तत्त्वज्ञानीसे श्रेष्ठ हैं, ऐसा कहना चाहिये, परंतु रामवशिष्ठके संवादने इस श्रेष्ठपनेका निषेध किया है-

भगवन् भूतभव्येश कश्चिदज्ञातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियमे स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् वद ॥

रामने कहा, कि-हे भूत भावीके नियन्ता भगवन् !, कोई पुरुष समाधिनिष्ठ ज्ञानीकी समान व्यवहार करता हुआ भी विश्रामको प्राप्त है। और कोई पुरुष एकांत देशमें जाकर नियमसे समाधिमें ही स्थित है, इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है यह बात हे भगवन् मुझे बता दीये। वशिष्ठदेवने उत्तर दिया, कि—

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तःशीतलता याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥
दृश्यैर्न मम सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित्संव्यवहारस्थः कश्चिद् ध्यानपरायणः ॥
द्वावेतौ राम सुसमावन्तश्चेत्परिशीतलौ ।
अन्तःशीतलता या स्यात्तदनन्ततपःफलम् ॥

इस गुणोंके कार्य संसारको अनात्म रूपसे देखनेवाले पुरुषके अंतःकरणकी शीतलता समाधि नामसे कही जाती है। दीखनेवाले किसी दृश्यके साथ मेरा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके शांत हुआ कोई पुरुष व्यवहारमें भी स्थित रहता है और कोई पुरुष ध्यानमें ही तत्पर रहता है, हे राम ! यदि अन्तःकरण शीतल हो तो

कृतमाकाशयानादि तत्र का स्यादपूर्वता ॥
एक एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः।
सर्वत्रास्थापरित्यागान्नीरागममलं मनः ॥
एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्तेः
संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य ।
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह-
लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥

हे राम ! ज्ञानवान् पुरुषकी बुद्धि किसी भी श्रेष्ठ वस्तुमें मोहित नहीं होती है, निश्चल और प्रशान्त चित्तवाला वह पुरुष स्वरूपमें ही स्थित रहता है। मन्त्रकी सिद्धिवाले, तपकी सिद्धिवाले और तन्त्रकी सिद्धिवाले यदि आकाश आदिमें विचर भी लिये तो इसमें अपूर्वपना ही क्या है ? अर्थात् आकाशमें बहुतसे पक्षी उड़ते हैं यह भी उनमेंका एक पक्षी बन गया। ज्ञानीमें एक ही विशेषता होती है, जो, कि-मूढ पुरुषोंमें नहीं होती, वह यह कि-उसकी सब दृश्य पदार्थोंमें सत्यत्वकी बुद्धि दूर होजाती है, इस कारण उसका निर्मल मन रागरहित होता है। अपनेको जाननेवाले, अन्य चिन्होंसे रहित स्वरूपवाले तथा जिसका संसाररूपी अनादिकालका भ्रम दूर होगया है ऐसे ज्ञानीका मुख्य लक्षण यही है, कि-उसके काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ और आपत्तिकी प्रतिदिन क्षीणता होती चली जाय।

ऐसी श्रेष्ठतावाले तथा सिद्धियोंमें आसक्ति और मनमाना आचरण इन दोषोंसे रहित योगीके मार्ग और स्थितिको पूछा है। वेष भूषा आदि उसका व्यवहार ही मार्ग कहलाता है और चित्तका उपरागरूप अन्तःकरण का धर्मही उसकी स्थिति है।

भगवान् चतुर्मुख ब्रह्माजी इस प्रश्नका उत्तर देते हैं-

तं भगवानाह ।

नारदजीके प्रति भगवान् ब्रह्माजीने कहा। जिसका आगे वर्णन करेंगे ऐसे मार्गमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये मार्गकी प्रशंसा करते हैं—

सोऽयं परमहंसानां मार्गो दुर्लभतरो न तु बाहुल्यम् ।

वह यह परमहंसोंका मार्ग बड़ा दुर्लभ है, यह बहुतसोंका नहीं

और व्यवहार करानेवाला तथा समाधिस्थ दोनों पुरुष ज्ञाननिष्ठ और वासनारहित हों तो भी वासनाके क्षयरूप जीवन्मुक्तिका पालन करनेवाली यह मनोनाशरूप समाधि श्रेष्ठ ही है। इस प्रकार योगीश्वर श्रेष्ठ हैं, इसलिये पांच प्रयोजन वाली जीवन्मुक्तिमें कुछ भी बाधा नहीं है।

जीवन्मुक्तिनिरूपण-प्रकरण समाप्त.

अथ विद्वत्संन्यासप्रकरण।

अथ जीवन्मुक्तिके उपकारी विद्वत्संन्यासका वर्णन करते हैं। विद्वत्संन्यासका वर्णन परमहंसोपनिषद्में किया है। उस उपनिषद् की पाठसहित व्याख्या करेंगे। आदिमें विद्वत्संन्यासके योग्य प्रश्नको उठाते हैं-.

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का परिस्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपगत्योवाच।

परमहंस योगियोंका कौनसा मार्ग है ? और उनकी स्थिति क्या है ? यह प्रश्न नारदजीने भगवान् ब्रह्माजीके पास जाकर किया।

यहाँ जो 'अथ' शब्द है उसका अर्थ है-'अनन्तर' परन्तु यह प्रतीत नहीं हुआ, कि—किसके अन्तर, तथापि यहाँ विद्वत्संन्यासको प्रश्न होना चाहिये। इस विद्वत्संन्यासमें उसका ही अधिकार है कि—जिसने तत्त्वज्ञान पालिया है परन्तु सांसारिक व्यवहारोंसे विक्षेप पड़ने पर जो मनकी विश्रान्तिको चाह रहा है। ऐसे अधिकारीको पाजाने के अनन्तर यही उपरोक्त उपनिषद्के आरम्भमें दियेहुए अथ शब्दका अर्थ है। केवल परमहंसका वारण करनेके लिये योगीका ग्रहण किया है तथा केवल योगीका वारण करनेके लिये परमहंसका ग्रहण किया है। केवल योगीको तत्त्वज्ञान नहीं होता, इसकारण वह त्रिकालकी बात जानलेना, आकाशमें विचरते फिरना इत्यादि योगके आश्चर्यमें डालनेवाले व्यवहारोंमें आसक्त होजाता है और इनमें अनेकों प्रकारके संयमोंसे अपने योगबलको व्यय करने लगता है और ऐसा होनेपर परमपुरुषार्थ मोक्षसे गिरजाता है। इस विषयमें "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" इस सूत्रको पहले ही कहचुके हैं। (केवल

वर्णन करनेवाले शास्त्रका पार पाये हुए पुरुषोंको यहां विद्वान् माने परमहंस योगीको ब्रह्मनिष्ठपना सब मनुष्य मानते हैं और पूर्वोक्त विद्वान् तो इस बातको न सहते हुए उसका ब्रह्मपना ही मानते हैं। स्मृतिमें भी कहा है-

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम्॥

दर्शन और अदर्शनको त्यागकर अद्वैतस्वरूपसे रहता है, हे ब्रह्मन्! वह पुरुष स्वयं ब्रह्मवेत्ता नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है इससे योगिपरमहंस दशाको कुछ प्रयोजन ही नहीं है ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती। नित्यपूतपने और वेदपुरुषपनेकी बातोंसे स्पष्ट करकर अब 'उनकी कैसी स्थिति है' इस प्रश्नका उत्तर तात्पर्यसे संक्षेपमें कहते हैं-

महापुरुषो यच्चित्तं तत्सर्वदा मय्येवावतिष्ठत
तस्मादहञ्च तस्मिन्नेवावस्थीयते।

यह महापुरुष योगी अपने चित्तको मुझमें ही स्थापित करता है, इसलिये मैं भी उसके ही पास रहता हूँ।

वैदिक ज्ञानवाले और कर्मके अधिकारी पुरुषोंमें योगी परमहंस पुरुषोत्तम है, इसलिये ही उसको महापुरुष कहा है, यह महापुरुष अपने चित्तको सदा मुझमें ही स्थिर रखता है, क्योंकि-उसके चित्तकी वृत्तियें अभ्यास और वैराग्यके कारण संसारके विषयोंसे हटी हुई होती हैं, इसलिये ही भगवान् प्रजापतिने स्वयं साक्षात् अनुभव किये हुए आत्माको लेकर 'मयि' अर्थात् 'मेरेविषैं' ऐसा कहा है देह-दृष्टिको लेकर नहीं कहा है। क्योंकि—यह योगी सदा मुझमें ही चित्तको लगाये रहता है, इसलिये मैं भी परमात्मरूपसे उसमें प्रकट रहता हूं, अन्य अज्ञानियोंमें नहीं रहता हूँ, क्योंकि—वे अविद्यासे ढकेहुए होते हैं। जो तत्त्वज्ञानी होकर भी योगी नहीं हैं, उनमें मेरा स्वरूप बाहरी वृत्तियोंसे ढका रहता है, इसकारण उनमें भी मैं दृष्टि नहीं रखता हूँ। अब योगी परमहंसका कौनसा भाग है? इसप्रश्नका उत्तर देते हैं—

असौ स्वमित्रपुत्रकलत्रबन्ध्वादिं शिखायज्ञोपवीते स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डे च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकोपकारार्थाय च परिग्रहेत्।

यह योगी परमहंस अपने पुत्र, मित्र, स्त्री बन्धु, आदिको शिखा तथा यज्ञोपवीत को, स्वाध्याय और सकल कर्मोंको त्याग कर तथा इस ब्रह्माण्डको भी त्याग कर केवल अपने शरीरके उपभोगके लिये निर्वाहमात्रके लिये तथा लोकोपकारके लिये कौपीन, दण्ड और ओढ़नेके वस्त्रको ग्रहण करे ।

जो गृहस्थ पूर्वजन्ममें सञ्चय किये हुए पुण्योंके परिपाक होनेसे माता पिता सम्बन्धी आदिके कारणवश विविदिषा संन्यासरूप परमहंसके आश्रमको स्वीकार किये बिना अथवा मनन आदि साधनोंको करके यथार्थ तत्त्वज्ञानको प्राप्त करलेता है और फिर गृहस्थाश्रमके लिये, प्राप्त हुए लौकिक वैदिक सहस्रों व्यवहारोंके लिये जब उसका चित्त विक्षेपमें पड़जाता है तब जो चित्तके विश्रामके लिये विद्वत्संन्यासको ग्रहण करना चाहता है । उसके लिये पुत्र मित्र आदिके त्यागको कहा है, क्योंकि-जिसने पहलेसे ही विविदिषा संन्यासको धारण करके तत्त्वज्ञानको पालिया है और फिर विद्वत्संन्यासको धारण करनेकी इच्छा करता है,उसको तो स्त्री पुत्र आदिका प्रसङ्ग होता ही नहीं है ।

(शङ्का)-क्या यह संन्यास अन्य संन्यासोंकी समान प्रैषोच्चारण आदि विधिके द्वारा कही हुई रीतिसे करना चाहिये ? अथवा जैसे हम पुराने कपड़ोंको उतार देते हैं अथवा जैसे रोग आदि उपद्रव वाले ग्रामको त्यागदेते हैं ऐसे ही क्या स्त्री पुत्र आदिका त्याग कर देना चाहिये ? । पहला पक्ष अर्थात् प्रैषोच्चारणादिविधि पूर्वक त्याग तो हो नहीं सकता,क्योंकि-तत्त्वज्ञानी पुरुषको अकर्ता होनेके कारण विधि निषेधका अधिकार ही नहीं है । स्मृति कहती है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त हुए कृतकृत्य योगीको कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रहता है और यदि उसको कुछ कर्त्तव्य है तो वह तत्त्ववेत्ता ही नहीं है । सुनते हैं कि-उसको कौपीन दण्ड आदि आश्रमके चिह्नों का विधान है, इस लिये लौकिकत्यागरूप दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है ?

(समाधान)-प्रतिपत्ति कर्मकी समान विद्वत्संन्यास लौकिक तथा वैदिक उभय कर्मरूप है, इसलिये ऊपर कहा हुआ दोष नहीं है । प्रतिपत्ति कर्मके विषयमें कहा है—'जिसने' ज्योतिष्टोम यज्ञकी

दीक्षा ग्रहण की हो उसके लिये दीक्षाके अङ्गभूत कर्मोंको करते समय हाथसे शरीरको खुजलानेका निषेध करके कृष्ण मृगके सींग से खुजलानेका विधान किया है, यथा—

यद्धस्तेन कण्डूयेत पामनं भावुकाः प्रजाः स्युर्यत्स्मयेत नग्नं भावुका इति कृष्णविषाणया कण्डूयेत ।

यदि हाथसे खुजलावे तो पामा रोगवाली सन्तान होती, यदि हाथसे खुजलानेका स्मरण करे तो निर्लज्ज प्रजा होती है इसलिये काले मृगके सींगसे खुजलावे । नियम पूरा होजाने पर कृष्णमृगके सींगका कुछ प्रयोजन नहीं रहता है, तथा उसको चिरकाल तक सहन करना भी अशक्य होता है इसकारण अपने आप ही उसका त्याग प्राप्त होगया परन्तु उसके विधिपूर्वक त्यागका वेदने विधान किया है—

नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति ।

दक्षिणायें देदेने पर कृष्णविषाणको चात्वाल कहिये ज्योतिष्टोममें बनाये जानेवाले एकगढ्ढेमें डालदेय । यह कर्म लौकिक और वैदिक उभयरूप है । ऐसे ही विद्वत्संन्यास भी उभयरूप है । तत्त्ववेत्तामें कर्त्तापनेका अत्यन्त अभाव है ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि-चैतन्यस्वरूप आत्मामें आरोपण कियेहुए कर्त्तापनेको ज्ञानसे हटादेने पर भी अनेकों प्रकारके विकारोंसे युक्त चिदाभास सहित अन्तःकरणरूप उपाधिमें जो स्वतःसिद्ध कर्त्तापना रहता है वह जबतक अन्तःकरण रहेगा तब तक रहेगा ही इस कारण ही तत्त्ववेत्ता पुरुषने उसको दूर नहीं किया है । इसलिये "ज्ञानामृतेन तृप्तस्य" इस स्मृतिके साथ कुछ विरोध नहीं आता है. क्योंकि-उसको ज्ञान होजाने पर भी अभीतक चित्तकी विश्रान्ति नहीं हुई, इसलिये ही उसको तृप्ति नहीं हुई है, उस चित्तकी विश्रान्ति को प्राप्त करना रूप कर्त्तव्य अभी तक शेष है, इसकारण वह कृतकृत्य नहीं हुआ है ।

(शङ्का)-यदि तत्त्वज्ञानीके लिये विधि मानली जाय तब तो उस से उत्पन्न हुए अपूर्वके द्वारा इसको अन्य शरीर की प्राप्ति होजानी चाहिये ?

(समाधान)-यहां यह दोष नहीं आसकता क्योंकि-चित्तकी विश्रान्तिमें बाधा डालनेवाले कारण को हटादेना, यह उस अपूर्व

का प्रत्यक्ष फल होसकता है, इसलिये जन्मान्तरकी प्राप्तिरूप अदृष्ट फलकी कल्पना करना योग्य नहीं है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो श्रवण आदि विधियोंको भी ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक मान लेनेपर उसका निवारणरूप दृष्ट फल है, उसका अनादर करके जन्मान्तरकी प्राप्तिरूप फलकी कल्पना की जा सकती है, इसलिये तत्त्वज्ञानीके लिये विधि माननेमें भी कुछ दोष नहीं है, इसलिये ज्ञानकी इच्छावाले पुरुषकी समान ज्ञानवान् गृहस्थ भी नान्दीमुख श्राद्ध, उपवास, जागरण आदि विधिके अनुसार विद्वत्संन्यास धारण करे। यद्यपि विद्वत्संन्यासमें श्राद्ध आदिका उपदेश नहीं दिया है तो भी, विद्वत्संन्यास विविदिषा संन्यासकी विकृति है और विकृति प्रकृतिकी समान करनी चाहिये इस न्यायसे विविदिषा संन्यासके सब नियम इस विद्वत्संन्यासमें होने चाहियें, यह बात पायी जाती है। जैसे अग्निष्टोमकी विकृति अतिरात्र आदिमें अग्निष्टोमके सब धर्म प्राप्त होते हैं। ऐसे ही विविदिषा संन्यासकी विकृति विद्वत्संन्यास है, अतः विविदिषा संन्यासकी अङ्गभूत क्रियाएं इस विद्वत्संन्यासमें भी करनी चाहियें इस कारण ही अन्य संन्यास की समान इस संन्यासमें भी प्रैषका उच्चारण करते हुए पुत्र मित्र आदिका त्याग कर देना चाहिये। श्रुतिमें वस्तु आदि पद है, अतः आदि पदसे लवण, पशु, घर, क्षेत्र आदि लौकिक वस्तुओंका त्याग समझना चाहिये। 'स्वाध्यायं च' इसमें जो चकार दिया है उससे वेदके अर्थका निर्णय करनेमें उपयोगी व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रोंका तथा वेदार्थका विस्तार करनेवाले इतिहास पुराण आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। इस कारण उनको त्याग दे। उत्सुकताकी निवृत्तिमात्र जिनका प्रयोजन है ऐसे काव्य नाटक आदिका त्याग कैमुतिक न्यायसे सिद्ध है। सर्वकर्म कहिये नित्य नैमित्तिक काम्य तथा निषिद्ध कर्मोंको त्याग दे। पुत्रादिके त्यागका तात्पर्य है—इस लोकके भोगसाधनका त्याग करना। सब कर्मोंके त्यागका तात्पर्य है-चित्तको विक्षेपमें डालनेवाली पारलौकिक भोगकी आशा को त्याग देना। 'ब्रह्माण्ड' इस वेदके प्रयोगमें विभक्तिव्यत्यय करके 'इदं ब्रह्माण्डम्' ऐसी योजना करलो। इसका अर्थ हुआ इस ब्रह्माण्डकी प्राप्तिकी कारणभूत विराट्की उपासनाको त्याग दो। 'ब्रह्माण्डको त्यागदो अर्थात् ब्रह्माण्डं च' इसमें के चकारसे सूत्रात्माकी प्राप्तिकी कारण हिरण्यगर्भ की उपासनका तथा

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके कारण श्रवण आदिका त्याग कहा है। अपने पुत्रसे लेकर हिरण्यगर्भ की उपासनापर्यन्त इस लोक और परलोक के सुखके सब साधनोंको प्रैषमंत्रके उच्चारण के द्वारा त्यागकर कौपीन आदिको धारण कर लेय 'आच्छादनं च' इसमें ओढ़नेके वस्त्रको ग्रहण करना कहा है, परन्तु इसमेंके चकारसे पादुका आदि का ग्रहण समझ लो। स्मृतिमें भी कहा है—

> कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारणीम्।
> पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्॥

दो कौपीन, एक ओढ़नेका वस्त्र, शीतसे रक्षा करनेवाली गुदड़ी तथा पादुका (खड़ाऊँ) इन वस्तुओंको संन्यासी अपने पास रक्खे और किसी वस्तुका संग्रह न करे।

कौपीनसे लज्जाकी रक्षा होती है, दण्ड के द्वारा बैल साँप आदि से बचनेमें सहायता मिलती है, आच्छादनसे शीत आदिका दुःख दूर होता है और पादुका धारण करनेसे उच्छिष्ट भूमिके स्पर्शसे बच जाता है। इन सबको ही शरीरका उपभोग कहते हैं तथा दण्ड आदि चिह्नोंको देखकर, इसका उत्तम आश्रम है, ऐसा समझ कर लोग उसको योग्यताके अनुसार अभिवादन करते हैं तथा भिक्षा देते हैं, इस कारण उन लोगोंका पुण्य बढ़ता है, इसप्रकार चिह्नोंको धारण करनेका फल लोकोपकार भी है। पीछे दियेहुए उपनिषद्के वचनमें 'स्वशरीरोपभोगाय च लोकोपकाराय च' इसमें दो चकार दिये हैं इससे यह तात्पर्य निकलता है, कि-शिष्टाचारसे प्राप्त आश्रमों की मर्यादाका पालन भी दण्ड आदि चिह्नोंके धारण करनेका फल है। यदि योगी परमहंस कौपीन आदि धारण करे तो उसकी अनुकूलता के लिये उनका धारण करना कहा है, इसकारण कौपीन आदिका धारण करना मुख्य रूपमें नहीं माना जासकता। योगी परमहंसके लिये यह गौणविधि है और विविदिषा संन्यासी के लिये तो दण्ड आदिका धारण करना, मुख्य है। इसलिये ही स्मृति दण्डत्यागका निषेध करती है—

> दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वदैव विधीयते।
> न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः॥

दण्ड और शरीरका संयोग सदा रखना चाहिये, एक २ करके छोड़ेहुए तीन बाण जहाँतक पहुँचें वहाँतक की भूमिपर्यन्त भी अपने आश्रमधर्मको जाननेवाला संन्यसी दण्डके बिना न जाय।

दण्डत्यागे शतं चरेत् किसी कारणसे दण्डका त्याग होजाय तो सौ प्राणायाम करे। इसप्रकार दण्डके त्याग पर स्मृतिने प्रायश्चित्त कहा है। योगी परमहंसकी मुख्य विधिको प्रश्नोत्तर के द्वारा दिखाते हैं—

कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यो न दण्डं न शिखं।
न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः॥

इसकी मुख्य विधि क्या है ? ऐसा बूझो तो इसका उत्तर यह है, कि-परमहंस दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत और आच्छादन इनमेंसे कुछ भी नहीं रखता है, यह मुख्य विधि है, व्याकरणकी रीतिसे 'न शिखाम्' ऐसा होना चाहिये, उसके स्थानमें 'न शिखं' ऐसा प्रयोग किया है यह प्रयोग है। जैसे विविदिषा संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत रहित मुख्य है ऐसे ही योगी परमहंस दण्ड और वस्त्ररहित मुख्य है, क्योंकि—दण्ड बांसका है या अन्य काठका इसप्रकार दण्डकी परीक्षा करनेके लिये तथा ओढ़नेका वस्त्र भी [illegible] है या अगरखेकी समान है, इसप्रकार आच्छादनकी परीक्षा करनेके लिये तथा दण्डको पानेके लिये एवं उसकी रक्षा करनेके लिये योगीके चित्तकी वृत्ति वारंवार बाहरको जाती है, इस दशामें उसका मुख्य काम जो चित्तकी वृत्तिका निरोधरूप योग है वह सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे किसी कन्याके साथ विवाह होता है तो वह वरको मार डालनेके लिये नहीं होता है किंतु उसके द्वारा वंश वृद्धि करनेके लिये होता है, यही बात परमहंस आश्रमको धारण करनेवालेमें संघटित होती है। यह केवल चित्तकी वृत्तिका निरोध करनेके लिये ही धारण किया जाता है, चित्तकी वृत्तिमें विक्षेप डालने के लिये धारण नहीं कियाजाता है। दण्ड आदिको धारण करनेसे तो जैसा कि ऊपर बताया है चित्तमें विक्षेप ही पड़ता है, इसलिये दण्ड आदिको धारण करना परमहंसके लिये मुख्य विधि नहीं है। वस्त्र आदि न रक्खेगा तो शीत धूप आदिसे शरीरकी रक्षा कैसे होगी ? इस शङ्काके उत्तरमें श्रुति कहती है, कि——

न शीतं न चोष्णं न दुःखं न सुखं न मानावमाने
च षडूर्मिवर्जम्।

उसको सरदी गरमी दुःख सुख और मान अपमान नहीं होता है तथा वह छः ऊर्मियोंसे रहित होता है।

जिसने सब वृत्तियोंको रोकलिया है, ऐसे योगीको शीतकी भान ही नहीं होता है। जैसे खेलमें प्रीतिवाला बालक नङ्गा होय तो भी उसको हेमन्त और शिशिर ऋतुके प्रातःकालमें सरदी नहीं व्यापती है, ऐसे ही परमात्मध्यानमें मग्न हुए योगीको शीत आदिका प्रभाव प्रतीत ही नहीं होता है तथा गरमीके दिनोंमें गरमी भी नहीं मालूम होती है 'च' शब्दसे यह भाव निकलता है कि--चौमासेमें वर्षा भी उसकी दृष्टिमें नहीं सी होती है। उसको सरदी गरमी की अप्रतीति होनेके कारण उससे होनेवाले सुख दुःखका भी अभाव होता है, यह बात उचित ही है। गरमीके दिनोंमें शीत सुख देता है और हेमन्तकालमें शीत दुःख देता है, ऐसे ही हेमन्तमें उष्णता सुख देता है और उष्णकालमें दुःख देती है मानका अर्थ है अन्य पुरुषों का किया हुआ सत्कार और अपमानका अर्थ है अन्य पुरुषका किया हुआ तिरस्कार। जब योगीकी दृष्टिमें अपने आत्माके सिवाय और कोई पुरुष ही नहीं है, तो उसका मान अपमान तो हो ही नहीं सकता। चकारसे शत्रु, मित्र, राग, द्वेष आदि द्वन्द्वधर्मोंका ग्रहण होता है। भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मरण ये छः ऊर्मियें हैं। इनमें भूख प्यास प्राणके धर्म हैं, शोक मोह अन्तःकरणके धर्म हैं और जरा मरण शरीरके धर्म हैं, इसलिये आत्माकी ओर दृष्टि रखने वाले योगीको इन छः ऊर्मियोंका त्याग करना उसकी स्थितिके विरुद्ध नहीं है। समाधिदशामें योगीको शीत आदिकी प्रतीति भले ही न हो, परन्तु व्युत्थान दशामें तो संसारी पुरुषकी समान निन्दा आदि क्लेश उसकी विरुद्धता करते हैं, ऐसी शङ्का होने पर इसके उत्तर में कहते हैं, कि—

निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकाम-
क्रोधलोभमोहदर्पाऽसूयाहङ्कारादींश्च हित्वा।

निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, दर्प, असूया तथा अहङ्कार आदिको त्यागकर।

विरोधी पुरुष अपनेको जो दोष लगावे वह निन्दा कहलाती है। मैं दूसरोंसे अधिक हूँ ऐसी चित्तकी वृत्तिका नाम गर्व है। विद्या धन आदिमें मैं दूसरोंकी समान होजाऊँ ऐसी बुद्धि मत्सर कहलाती है। दूसरोंके सामने अपने जप ध्यान आदिका बखान करना दम्भ कहलाता है। दूसरोंका तिरस्कार करने आदिमें जमीहुई बुद्धि दर्प

कहलाती है। धन आदिकी लालसाका नाम इच्छा है। शत्रुको मार डालने आदिमें लगीहुई बुद्धिका नाम द्वेष है। धन आदि अनुकूल पदार्थ की प्राप्तिसे बुद्धिकी स्वस्थताका नाम सुख है। सुखका उलटा दुःख कहलाता है। स्त्री आदिकी इच्छाका नाम काम है। इच्छित पदार्थके विघातसे होनेवाला बुद्धिका क्षोभ क्रोध कहलाता है। जो कुछ धन आदि मिल गया है उसके त्यागको न सहसकना लोभ कहलाता है। हितको अहित मान बैठना और अहितको हित मान बैठना मोह कहलाता है। चित्तमेंके सुखको जतानेवाली, मुखके प्रफुल्ल होनेकी हेतुरूप जो बुद्धिकी वृत्ति वह हर्ष कहलाती है। दूसरेके गुणोंमें दोष लगानेका नाम असूया है, और देह इन्द्रिय आदि संघातमें यह आत्मा है अर्थात् यही मैं हूँ,ऐसी भ्रान्तिका नाम अहङ्कार है। आदि पदसे भोग्य पदार्थोंमें की ममता तथा उनमें श्रेष्ठताकी बुद्धिको भी त्यागदेय। चकारका ग्रहण निन्दासे विपरीत स्तुति आदिके ग्रहणके लिये है। इन सब निन्दा आदि दोषोंको वासनाक्षयके अभ्याससे त्यागकर स्थित होय।

(शङ्का)-जबतक शरीर है तबतक निन्दा गर्व आदिका त्याग नहीं होसकता।

(समाधान)—

स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्वस्तम् ।

अपने शरीरको मुरदेकी समान देखता है, क्योंकि-वह शरीर ज्ञान होजाने पर नष्ट होगया है।

पहले जिसको 'यह मेरा शरीर है' ऐसा मानता था, उस शरीर को योगी ज्ञान होजाने पर चैतन्यस्वरूप आत्मासे जुदा मुरदेकी समान देखता है। जैसे कोई श्रद्धावाला पुरुष छूजानेके भयसे मुरदे शरीरको दूर खड़ा २ देखता है, ऐसे ही योगी भी शरीरके साथ तादात्म्यकी भ्रान्तिका उदय न होजाय, इस भयसे सदा देहको चिदात्मासे पृथक् देखा करता है, क्योंकि-वह शरीर श्रीगुरुके उपदेशसे, शास्त्रके प्रमाणसे और अपने अनुभवसे पहले ही चैतन्य-स्वरूप आत्मासे पृथक् कर लियागया है, इसलिये योगी चैतन्यरहित आत्माको शवकी समान देखता है, इसलिये देहके होतेहुए भी योगी निन्दाका त्याग कर सकता है। जैसे दिशाओंके विषयमें उत्पन्नहुई भ्रान्ति यद्यपि सूर्योदय होनेसे दूर होजाती है तो भी किसी समय फिर उदय होजाती है तथा चैतन्यस्वरूप आत्माके विषयमें फिर देह

में आत्मपनेका संशय आदि उत्पन्न होजाय तो निदा आदि कुशका प्रसङ्ग वारंवार आजाय तो ऐसी शङ्काका निवारण करनेके लिये कहते हैं, कि—

संशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिर्मुक्तः ।

संशयज्ञान, विपरीतज्ञान तथा मिथ्याज्ञानका जो हेतु, वह योगीमें से सदाके लिये दूर होगया।

आत्मा कर्त्तापन आदि धर्मवाला है या उन धर्मोंसे रहित है? यह संशयज्ञानका स्वरूप है। आत्मा देहादिरूप ही है, यह मिथ्याज्ञान का स्वरूप है। ये दो ज्ञान भोक्ताको विषय करनेवाले हैं। यहाँ मिथ्याज्ञान भोग्यविषयक है। यह मिथ्या ज्ञान अनेकों प्रकारका है। इस बातको "सङ्कल्पप्रभवान् कामान्" इस श्लोककी व्याख्यामें स्पष्ट करदिया है। संशय आदि ज्ञानका हेतु पतञ्जलि मुनिने चार प्रकारका कहा है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मामें नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मभावकी भ्रान्ति अविद्या कहलाती है। पर्वत, नदी समुद्र आदि पदार्थ जो अनित्य हैं, उनमें नित्य होनेकी भ्रान्ति पहली अविद्या है। स्त्री पुत्र आदिके अशुचि शरीरोंमें शुचि होनेकी भ्रान्ति दूसरी अविद्या है। दुःखरूप खेती व्यापार आदिमें सुखपनेकी भ्रान्ति होना तीसरी अविद्या है। स्त्री पुत्र आदिके शरीर जो गौण आत्मा हैं तथा अन्नके विकाररूप स्थूल शरीर जो मिथ्यात्मा हैं इन दोनोंमें मुख्यात्माकी भ्रान्ति होना चौथी अविद्या है। पहले कहे हुए संशयका आदि कारण, अपने स्वरूपसे अभिन्न ब्रह्मको कारण करनेवाला अज्ञान तथा उसकी वासना है। उसमें अज्ञान तो महावाक्यके अर्थका ज्ञान होनेसे नष्ट होचुका है और वासना योगाभ्याससे क्षीण होगयी है। पहले उदाहरणरूपसे दिखायी हुई दिशाओंकी भ्रान्तिमें सूर्योदयसे भ्रान्तिरूप अज्ञान दूर होजाने पर भी उसकी वासना रहजाती है, इसकारण घूमकर दिग्भ्रम होजाता है और योगीके दोनों कारण नष्ट होजाते हैं, इस कारण उसको संशय कैसे होसकता है कदापि नहीं होसकता। इस प्रकार संशय आदिके दोनों कारणोंका अभाव होता है। इस अभिप्राय से ही 'सदा संशय आदि के कारणसे रहित ऐसा श्रुति कहती है। योगीमें अज्ञान और वासनाकी निवृत्ति उत्पन्न

होजाने पर उस निवृत्तिका नाश नहीं होता, इसलिये उनकी सदा निवृत्ति कही है। संशय आदिके कारणोंकी निवृत्तिके नित्य होनेमें हेतु दिखाते हैं,कि-'तन्निश्चयबोधः'अर्थात् उस परमात्माका जिसको सदा ज्ञान है,ऐसा योगी पुरुष'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' धीर ब्रह्मज्ञानी पुरुष उस परमात्माका साक्षात्कार पाकर अपनी बुद्धिको ब्रह्माकार करलेय। इस श्रुतिके अनुसार योगके द्वारा चित्त के विक्षेपोंको दूर करके अपनी बुद्धिको निरन्तर परमात्माकार रखता है, अतः ज्ञानकी नित्यताके कारणसे ज्ञानसे दूर होनेवाले अज्ञान और उसकी वासनाकी निवृत्ति उसमें नित्य रहती है। अनुभवमें आनेवाला परमात्मस्वरूप,तार्किकके ईश्वरकी समान तटस्थ होगा, इस शङ्काको दूर करते हैं, कि-'तत्स्वयमेवावस्थितिः' वेदान्त के द्वारा जाननेमें आसकनेवाला जो परमात्माका स्वरूप है वह स्वयं मैं हूँ, वह मुझसे जुदा नहीं है, ऐसा निश्चय होकर योगीकी ब्रह्ममें ही स्थिति होती है। योगीको किस प्रकारके ब्रह्मका अनुभव होता है, उसको बताते हैं—

तं शांतमचलमद्वयानन्दविज्ञानघन एवास्मि
तदेव मे परमं धाम।

वह शान्त, अचल, अद्वितीय, आनन्दरूप, विज्ञानघन परमात्मा मैं हूँ, वही मेरा वास्तविक स्वरूप है। जो परमात्मा शान्त कहिये क्रोध आदि विक्षेपरहित है, अद्वितीय कहिये सजातीय विजातीय और स्वगतभेदशून्य है तथा अखण्ड सत् चित् आनन्दस्वरूप है वही मैं हूँ। वह ब्रह्मस्वरूप अहम् ही योगीका परमधाम कहिये वास्तविक स्वरूप है। कर्तापन भोक्तापन आदि धर्मवाला मेरा स्वरूप नहीं है, वह तो मायाकल्पित है।

यदि आत्मा आनन्दमय परब्रह्मस्वरूप है तो वह तो सर्वदा सब के विषें स्थित है, फिर इस समय आनन्दकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? इस शङ्काका उत्तर विद्वानोंने दृष्टान्तके साथ यह दिया है—

गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम्।
तदेव कर्मरचितं पुनस्तस्यैव भेषजम्॥
एवं सर्वशरीरस्थः सर्पिर्वत्परमेश्वरः।
विना चोपासनां देवो न करोति हितं नृषु॥

जैसे घी गौके शरीरमें ही रहता है तो भी वह शरीरको पुष्ट नहीं करता, परन्तु वही क्रियासे निकाल लियाजाता है तो गौके शरीरकी पुष्टिके लिये औषधरूप होजाता है। ऐसे ही परमात्मदेव

घीकी समान सब शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं तो भी वह उपासनाके बिना मनुष्यका हित नहीं करते।

योगीके पूर्व आश्रमके प्रसिद्ध गुरु, पिता, भाई आदि सम्बन्धी जो कि-कर्मकाण्डमें निष्ठावाले और श्रद्धाजड़ हैं वे यदि शिखा यज्ञोपवीत सन्ध्यावन्दन आदि न होनेके कारण पाखण्डी बता कर उसको व्यामोहमें डालें तो उस व्यामोहको दूर करनेके लिये योगीके वर्तमान निश्चयको दिखाते हैं—

तदेव शिखा तदेवोपवीतञ्च परमात्मनोरैकत्व-
ज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा सन्ध्या ।

वह ब्रह्म ही शिखा है, वही यज्ञोपवीत है तथा जीवात्मा परमात्मा के अभेदज्ञानसे जो उनके भेदका नाश हुआ है वही सन्ध्या है। अर्थात् वेदान्तसे जाननेमें आनेवाले परमात्माका ज्ञान ही कर्मकी अङ्गभूत बाहरकी शिखा तथा यज्ञोपवीतके स्थानमें हैं। कर्मके अङ्ग रूप और जो मन्त्र द्रव्य आदि हैं उनका ग्रहण चकारसे होता है शिखा आदि अङ्गोंसे करने योग्य कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हुआ जो स्वर्ग आदि सुख है वह सब ब्रह्मज्ञानसे ही प्राप्त होता है, क्योंकि-सम्पूर्ण विषयानन्द ब्रह्मानन्दका लेशमात्र हैं। श्रुति कहती है—

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।

अन्य प्राणी ब्रह्मानन्दके लेशमात्रको भोगते हैं। इस ही अभिप्राय को लेकर अथर्ववेदको पढ़नेवाले ब्रह्मोपनिषदमें कहते हैं, कि-

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः ।
यदक्षरं परंब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् ।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥
येन सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥
बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममाश्रितः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ।
सूत्रमन्तर्गतं तेषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ।
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ॥
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ।
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ॥
तैर्धार्यमिदं सूत्रं कर्माङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ।
शिखा ज्ञानमयी यस्योपवीतञ्चापि तन्मयम् ॥
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ।
इदं यज्ञोपवीतञ्च परमं यत्परायणम् ॥
विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात्तज्ज्ञास्तं यज्विनं विदुः ।

विद्वान् परमहंस शिखा सहित और ऊपरका बाहरी यज्ञोपवीतको त्याग देय. जो नाशरहित परब्रह्म है वही सूत्र है, इसलिये उसको धारण करे, यह वेदान्तशास्त्र सूचित करता है. इसलिये परमपद सूत्र है, अतः परमात्मारूप सूत्रको जिसने जानलिया वह ब्राह्मण वेदके पारको पागया है । जैसे डोरेमें मणिये पुहे हुए होते हैं तैसे ही सब द्रव्य जिससे व्याप्त हो रहा है वह सूत्र ही योगवेत्ता और तत्त्वदर्शी पुरुषको धारण करना चाहिये, उत्तम योगके आश्रयको पायाहुआ विद्वान् बाहरी यज्ञोपवीतको त्यागदेय । जो पुरुष ब्रह्मकी सत्तारूप सूत्रको धारण करता है वह ज्ञानवान् है. इस सूत्रको धारण करनेसे पुरुष उच्छिष्ट वा अशुचि नहीं होता है । जिन ज्ञानरूप यज्ञोपवीतवाले पुरुषोंके अन्तःकरणमें ऊपर कहाहुआ सूत्र रहता है वे ही जगत्‌में सूत्रको जाननेवाले हैं और वे ही नित्यसिद्ध यज्ञोपवीतवाले हैं । जिनकी ज्ञानरूप शिखा है, जिनकी ज्ञानमें ही निष्ठा है तथा जिनका ज्ञानरूप यज्ञोपवीत है उनको ज्ञान परम पावन कहलाता है । जैसे अग्निकी शिखा अपने स्वरूपसे जुदी है तैसे ही जिसकी ज्ञानरूप अभिन्नशिखा है वही शिखावाला कहलाता है, दूसरे जो बाल बढालेनेवाले हैं वे शिखावाले नहीं हैं । जो ब्राह्मण आदि वर्ण वैदिक कर्म करनेका अधिकार पायेहुए हैं वे ही बाहरकी शिखाको धारण करें, क्योंकि-वह कर्मकी अङ्गभूत है । जिसके ज्ञानरूपा शिखा है तथा ज्ञानमय यज्ञोपवीत है उसमें ही पूर्ण ब्राह्मणपना है इस बातको वेदवेत्ता जानते हैं । यह प्रसिद्ध श्रेष्ठ तथा सबसे उत्तम आश्रय जो ब्रह्मरूप यज्ञोपवीत है उसको जो अपनेसे अभिन्न जानता

है वही यज्ञोपवीतवाला है तथा उसको ही ज्ञानियोंका यज्ञ करनेवाला कहते हैं।

इसप्रकार योगीके शिखा यज्ञोपवीत होते हैं और सन्ध्या भी होती है। जो शास्त्रगम्य परमात्मा है तथा जो 'मैं' इस प्रतीतिका गम्य जीवात्मा है, इनके भेदको योगी महावाक्यसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा इसप्रकार नष्ट कर देते हैं कि-जिससे फिर उदय न होसके। इसप्रकार दोनोंका अभेदज्ञान जीवात्मा परमात्माकी सन्धिमें होता है, इस कारण वह योगीकी सन्ध्या कहलाती है, जैसे रात और दिनकी सन्धिमें करने योग्य क्रिया सन्ध्या कहलाती है, ऐसे ही अपरोक्ष ज्ञान भी जीवात्मा और परमात्माकी सन्धिमें होता है, इसलिये वह भी परमहंसकी सन्ध्या ही कहलाता है। इसप्रकार विचार करनेवाले योगीको श्रद्धाजड़ पुरुष व्यामोहमें नहीं डालसकते। परमहंसका कौनसा मार्ग है? इसका उत्तर-'स्वपुत्र इत्यादि' श्रुतिसे दिया। फिर उसकी स्थिति कैसी होती है? इसका उत्तर—महा पुरुष० इत्यादि' वचनसे संक्षेपमें देकर तथा 'संशयविपर्यय०इत्यादि' वचन से उसका विस्तारके साथ उत्तर देकर अंत उपसंहार करते हैं, कि

सर्वान् कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः।

सकल कामनाओंका त्याग करके योगी परमहंसकी पर अद्वैतमें स्थिति होती है। क्रोध लोभ आदिकी उत्पत्ति भी कामसे ही होती है, इसलिये कामनाके त्यागसे चित्तके सब दोषोंका त्याग समझना चाहिये। इस ही अभिप्रायसे वाजसनेयी शाखावाले कहते हैं कि-

अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः।

यह पुरुष निःसन्देह कामनामय है। इसलिये निष्काम योगीके चित्तकी अद्वैत ब्रह्ममें निर्विघ्न स्थिति हो सकती है।

दण्डग्रहण विधिकी वासनावाले विविदिषासंन्यासी दण्डरहित योगीको परमहंस नहीं मानते हैं, ऐसी शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि

ज्ञानदंडो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते।
काष्ठदंडो धृतो येन सर्वाशीज्ञानवर्जितः॥
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान्।
तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः॥
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा।

जिसने ज्ञानदण्डको धारण किया है वह एकदण्डी कहलाता है।

जो केवल काठके दण्डको धारण कर सबका अन्न खाता है तथा ज्ञान-रहित है वह संन्यासी महारौरव नामके घोर नरकमें पड़ता है तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम, आदि गुणोंसे रहित केवल भीख मांगकर जीता है वह पापी दूसरे संन्यासियोंकी वृत्तिका भङ्ग करनेवाला है ।

इसप्रकार केवल दण्डी तथा दण्डरहित योगी पुरुषों अन्तरको समझ कर योगी पुरुषको ही परमहंस कहना चाहिये । परमहंसका एकदण्ड दो प्रकारका है-एक काठका दण्ड और दूसरा ज्ञानका । जैसे त्रिदण्डी संन्यासीके काठके दण्डके सिवाय वाग्दण्ड मनोदण्ड तथा कायदण्ड ये तीन दण्ड होते हैं, ऐसे ही परमहंसका ज्ञानदण्ड है । वाग्दण्ड आदि तीन दंडोंको मनु भगवान् कहते हैं-

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता बुद्धौ स त्रिदण्डीति चोच्यते ॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

वाग्दण्ड, मनोदण्ड, और कर्मदण्ड ये तीन जिसकी बुद्धिमें नियमसे हैं वह त्रिदण्डी कहलाता है, मनुष्य सब प्राणियोंमें इन तीन दण्डोंको रखकर तथा काम क्रोधको वशमें रखकर पीछेसे सिद्धि को पाजाता है । उनके स्वरूपके विषयमें दक्षजी नीचे लिखे अनुसार कहते हैं ।

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता दण्डास्त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कर्मदण्डे त्वनीहताम् ।
मानसस्य तु दण्डस्य प्राणायामो विधीयते ॥

वाग्दंड, मनोदंड तथा कर्मदंड ये तीन दंड जिसके नियमके साथ होते हैं वह त्रिदण्डी कहलाता है । वाग्दंडमें मौन धारण करना, कर्म-दण्डमें क्रियारहित होना और मनोदण्डमें प्राणायाम करना कहा है । कहीं "कर्मदण्डोऽल्पभोजनम्" ऐसा भी पाठ है अर्थात् थोड़ा भोजन करना कर्मदण्ड कहलाता है ऐसा त्रिदण्डीपना परमहंसका भी होता है । इस अभिप्रायसे ही ब्रह्माजी कहते हैं, कि-

यतिः परमहंसस्तु तुर्याख्यः श्रुतिचोदितः ।
यमैश्च नियमैर्युक्तो विष्णुरूपी त्रिदण्डभृत् ॥

परमहंस संन्यासीको श्रुतिने तुर्य नामसे कहा है । यम नियमों- वाला तथा वाग्दंड आदि तीन दंडोंको धारण करनेवाला यति विष्णुरूप है ।

इसप्रकार जैसे मौन आदि वाणी आदिके दमनका कारण होनेसे दण्डरूप हैं तैसे ही ज्ञान भी अज्ञान और उसके कार्यका दमन करने वाला होनेसे दण्डरूप है । इस ज्ञानदण्डको जो परमहंस धारण किये होता है वही मुख्य एकदण्डी कहलाता है । मानस ज्ञानदण्ड का कदाचित् चित्तके विक्षेपसे विस्मरण होनेका प्रसङ्ग आजाय तो उसका स्मरण करानेके लिये स्मारक चिह्नरूपसे काष्ठका दण्ड धारण कियाजाता है । ऐसे शास्त्रके तात्पर्यको समझे बिना केवल वेषमात्रसे जिसने काठका दण्ड धारण किया हो वह परमहंस अनेकों प्रकारके सन्तापोंको पाता है और घोर महारौरव नरककी यातना को भोगता है ।

नरक प्राप्तिका कारण यह है कि-परमहंसके वेषको ही देख कर सब मनुष्य, यह ज्ञानी होगा इस भ्रमसे उसको अपने २ घर लेजा कर भोजन कराते हैं और वह आप भी जिह्वाके स्वादमें लम्पट होकर भक्ष्य अभक्ष्यके विचारको छोड़ कर जो भी खानेको मिलजाय सब खा लेता है, इससे वेषधारी अज्ञानी परमहंस अपराधी होजाता है। "नान्नदोषेण मस्करी" संन्यासीको अन्नका दोष नहीं लगता 'चा- तुर्वर्ण्यं चरेद् भैक्ष्यम्" संन्यासी चारों वर्णोंकी भिक्षाको ग्रहण करे। ऐसे २ स्मृतियोंके जो वाक्य हैं वे केवल ज्ञानी संन्यासियोंके विषय में हैं । अज्ञानी संन्यासी तो भक्ष्य अभक्ष्यके विवेकको छोड़दे तो नरकका ही अधिकारी होता है । जिसने ज्ञान नहीं पाया है ऐसे संन्यासीके लिये मनुजीने भिक्षाका नियम लिखा है—

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥
एककालं चरेद् भैक्ष्यं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्ष्ये प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥

उत्पातकी बात बता कर, शुभ अशुभके निमित्तको कहकर नक्षत्रों का फल बता कर, सामुद्रिक की बातें बता कर, उपदेश सुनाकर तथा शास्त्रार्थ करके संन्यासी कभी भी भिक्षा पानेकी इच्छा न करे। एक समय ही भिक्षा माँग कर भोजन करे. अधिक भिक्षामें आसक्ति न करे, क्योंकि-जो यति भिक्षाका लोभी होजाता है वह उस लोभके

बढ़जाने पर और २ विषयोंमें भी आसक्त होजाता है। ज्ञानाभ्यासी परमहंसके लिये तो स्मृति ऐसा कहती है कि—

एकवारं द्विवारं वा भुञ्जीत परहंसकः।
येन केन प्रकारेण ज्ञानाभ्यासी भवेत्सदा॥

परमहंस संन्यासी एक वार अथवा दो वार भोजन करें, जैसे भी होसके तैसे सदा ज्ञानका अभ्यास करनेमें लगा रहे।

इसप्रकार ज्ञानदण्डके उत्तमपनेको और काष्ठदण्डके अधमपनेको समझ कर जो ज्ञानदण्डको धारण करता है वही मुख्य परमहंस है ऐसा मानना चाहिये। ज्ञानवान् परमहंसका ज्ञानदण्ड रहे और काष्ठके दंडका आग्रह वह भले ही न करे परन्तु उसका और शेष आचरण कैसा होता है? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं, कि—

आशाम्बरो निर्नमस्कारो न स्वधाकारो न नि-
न्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद् भिक्षुर्नावाहनं न
विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं
नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथङ् न चाहं न त्वं न च
सर्वं चानिकेतस्थितिरेव। स भिक्षुः सौवर्णा-
दीनां नैव परिग्रहेत्तल्लोकं नावलोकयेच्च।

दिशारूपवस्त्रोंको धारण करे (नग्न रहे) किसीसे नमस्कारका व्यवहार न रक्खे, श्राद्ध न करे, किसीकी निन्दा स्तुति न करे, किसी प्रकारके व्यवहारकी हठ न रक्खे, भिक्षाका भोजन करे, देवताका आवाहन विसर्जन मन्त्रजप ध्यान तथा उपासना आदि न करे। लक्ष्यार्थ, अलक्ष्यार्थ, पृथक्, अपृथक्, मैं, तू, सब इत्यादि कोई विकल्प न करे, वह एक स्थान पर कुटी बना कर न रहे, सोना आदि न लेय, वह सुवर्ण आदिके तथा शिष्य आदिके ऊपर दृष्टि भी न डाले। आशा कहिये दिशायें ही अम्बर कहिये शरीर पर ओढ़नेका जिसके वस्त्र हैं वह आशाम्बर कहलाता है और स्मृतिमें जो कहा है, कि—

जान्वोरूर्ध्वमधो नाभेः परिधायैकमम्बरम्।
द्वितीयमुत्तरं वासः परिधाय गृहानटेत्॥

घुटनोंसे ऊपर तथा नाभिके नीचे एक वस्त्र धारण करके तथा ऊपर दूसरा वस्त्र ओढ़कर यति गृहस्थोंके यहां भिक्षाके लिये जाय। यह स्मृतिका वाक्य उनके लिये है जो संन्यासी योगी नहीं हैं, इस

लिये ही पहले कहचुके हैं, कि-वह मुख्य नहीं है । यद्यपि, दूसरी स्मृतिमें कहा है, कि-

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।
तस्मै प्रणामः कर्त्तव्यो नेतराय कदाचन ॥

जिसने अपनेसे पहले संन्यास धारण किया हो और धर्ममें अपनी समान हो उस संन्यासीको प्रणाम करे और संन्यासीको किसी समय भी नमस्कार न करे । यह वचन भी जो संन्यासी योगी न हो उसके ही लिये है । योगी संन्यासीके लिये तो किसीके लिये भी नमस्कार नहीं करना है,इसलिये ही पहले ब्राह्मणके कथनमें 'निर्नमस्कारमस्तुतिम्' अर्थात् नमस्कार और स्तुतिसे रहित, ऐसा कहा है । गया प्रयाग आदि तीर्थोंमें जाने पर अत्यन्त श्रद्धाके कारण प्राप्त हुए श्राद्धका भी उसके लिये निषेध है । पहले 'निन्दागर्व० इत्यादि' वाक्यके द्वारा दूसरेकी की हुई अपनी निन्दासे होनेवाले क्लेशका निषेध किया है और यहां तो अपने द्वारा होनेवाली दूसरे की निन्दा और स्तुतिका निषेध किया है । उसको तो कोई भी व्यवहार आग्रहके साथ करना उचित नहीं है ।

भिक्षाटनं जपः शौचं स्नानं ध्यानं सुरार्चनम् ।
कर्त्तव्यानि षडेतानि सर्वथा नृपदण्डवत् ॥

भिक्षाके लिये घूमना, मन्त्रका जप, शौच स्नान, ध्यान तथा देव पूजन ये छः कर्म संन्यासीको राजदण्डकी समान करने चाहियें ।

इसप्रकार स्मृतिमें देवपूजनमें आग्रह दिखाया है, यह भी योगीके लिये नहीं है । इस ही अभिप्रायसे 'नावाहनम्' इत्यादि श्रुतिने कहा है । एक वार स्मरणका नाम ध्यान है । और निरन्तर स्मरणका नाम उपासना है, यही ध्यान और उपासना में भेद है । जैसे योगीका स्तुति निन्दा आदि लौकिक व्यवहार नहीं होता है, जैसे देवपूजन आदि धर्मशास्त्रसंबन्धी व्यवहार नहीं होता है तैसे ही लक्ष्यत्व आदि ज्ञानशास्त्रका व्यवहार भी उसका नहीं होता है । उसको ही दिखाते हैं-जो साक्षिचैतन्य है वह 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें 'त्वम्' पदका लक्ष्य है । देह आदि उपाधियुक्त चैतन्य 'त्वं' पदका लक्ष्य अर्थ नहीं है, किन्तु वह त्वं पदका वाच्य अर्थ है, वह वाच्य अर्थ तत् पदके अर्थसे पृथक् है. लक्ष्य अर्थ पृथक् नहीं है । अपने देहमें स्थित वाच्य अर्थ 'अहम्' (मैं) इस पदसे व्यवहार

करनेके योग्य है तथा अन्य देहमें स्थित वाच्य अर्थ 'त्वम्' तू इस पदसे व्यवहार करनेके योग्य है। लक्ष्य तथा वाच्य ऐसा दोनों प्रकारका चैतन्यरहित अन्य जड़ जगत् 'सर्व' पदसे व्यवहार करने के योग्य है। इसप्रकारका कोई भी विकल्प योगीको नहीं फुरता है, क्योंकि-उसका चित्त ब्रह्ममें विश्राम पाया हुआ होता है, इसलिये ही वह संन्यासी एक ही स्थान पर निवास नहीं करता है, क्योंकि-यदि एक ही स्थान पर निवास करनेके लिये कोई मठ बना लेय तो उसमें ममता बँधजानेसे यदि उसकी हानि वा वृद्धि होजाय तो उस का चित्त विक्षेपमें पड़जाय। इस ही अभिप्रायसे श्रीगौड़पादाचार्य कहते हैं, कि—

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्॥

संन्यासी किसीकी भी स्तुति वा नमस्कार करनेमें प्रवृत्तिरहित, श्राद्ध न करनेवाला, शरीर और आत्माको ही घर माननेवाला तथा आग्रहरहित होता है।

जैसे मठ बना कर रहना अनुचित है, ऐसे ही भिक्षाके वा आचमन आदि करनेके सोने चांदीके पात्रोंमेंसे कोई पात्र रखना भी अनुचित है। यमस्मृतिमें कहा है-

हिरण्मयानि पात्राणि कृष्णायसमयानि च।
यतीनां तान्यपात्राणि वर्जयेत्तानि भिक्षुकः॥

सोनेके पात्र और लोहेके पात्र तथा अन्य धातुके पात्र भी यतियों के पात्र नहीं हैं, संन्यासी उनका त्याग कर देय। मनुजी भी कहते हैं—

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषां मृद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥
अलाबुदारुपात्रं वा मृन्मयं वैणवं तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥

संन्यासीके पात्र किसी धातुके तथा टूटे फूटे नहीं होने चाहिये, जैसे यज्ञमें चमसपात्रकी मृत्तिकासे शुद्धि होजाती है ऐसे ही संन्यासियोंके पात्रोंकी भी शुद्धि होजाती है। तोंबीका पात्र, काठका पात्र मट्टीका पात्र तथा बांसका पात्र, इतने पात्र यतियोंके होते हैं, ऐसा स्वायम्भुव मनुने कहा है। बौधायन भी कहते हैं-

स्वयमाहृतपर्णेषु स्वयं शीर्णेषु वा पुनः ।
भुञ्जीत न वटाश्वत्थकरञ्जानाञ्च पर्णके ॥

अपने आप लाये हुए अथवा आप टूटकर गिरहुए पत्तोंमें यतिको भोजन नहीं करना चाहिये तथा वड़ पीपल और करञ्जके पत्तेमें भी नहीं खाना चाहिये ।

आपद्यपि न कांस्येषु मलाशी कांस्यभोजनः ।
सौवर्णे राजते ताम्रे मृन्मये त्रपुसीसयोः ॥

आपत्तिके समय भी कांसीके पात्रमें न खाय, क्योंकि—कांसीके पात्रमें खानेवाला संन्यासी मलका भोक्ता है तथा सोना चांदी तांवा मट्टी, रांग और सीसेके पात्रमें भी भोजन न करै । संन्यासीको लोक कहिये शिष्योंका संग्रह भी नहीं करना चाहिये मनुजीने कहा है, कि-

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः ।
सिद्धिमेकस्य पश्यन् हि तज्जहाति न हीयते ॥

अकेलेकी सिद्धिको देखता हुआ मोक्षके लिये भृत्य आदिकी सहायताके विना नित्य अकेला ही विचरे, ऐसी वृत्तिवाला यति किसीको त्याग नहीं करता है तथा उसको भी कोई नहीं त्यागता है मेधातिथि भी कहते हैं—

आसनं पात्रलोपश्च सञ्चयः शिष्यसंग्रहः ।
दिवास्वापो वृथालापो यतेर्बन्धकराणि षट् ॥
एकाहात्परतो ग्रामे पञ्चाहात्परतः पुरे ।
वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ॥
उक्तालाब्वादिपात्राणामेकैकस्यापि संग्रहः ।
भिक्षोर्भैक्ष्यभुजश्चापि पात्रलोपः स उच्यते ॥
गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ।
कालान्तरोपभोगार्थं सञ्चयः परिकीर्त्तितः ॥
शुश्रूषालाभपूजायशोऽर्थं वा परिग्रहः ।
शिष्याणामनुकारुण्यात्स ज्ञेयः शिष्यसंग्रहः ॥
विद्या दिनं प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ।
विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते ॥
आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भैक्ष्यावार्त्तां स्तुतिम् ।
अनुग्रहात्पथि प्रश्नो वृथालापः स उच्यते ॥

आसन, पात्रलोभ, संचय, शिष्यसंग्रह, दिवाशयन तथा वृथा आलाप ये छः बातें संन्यासियोंको बन्धनमें डालने वाली हैं। ग्राममें एक दिनसे अधिक रहना, नगरमें पांच दिनसे अधिक और चौमासेके अन्य समयमें एक ही स्थान पर रहनेका नाम आसन है। भिक्षाके अन्नका भोजन करने वाला यति यदि तोंबी आदि काठ पात्रोंमेंसे एक २ का भी संग्रह करे तो वह पात्रलोभ कहलाता है। जो एक २ कुण्ड आदि ग्रहण करलिया है, उससे अधिक आगेको काममें आजायगा ऐसे विचार से ग्रहण करलिया जाय तो वह संचय कहलाता है। अपनी सेवाके लिये, लाभके लिये, पूजाके लिये, यशके लिये या दयावश भी शिष्योंको साथमें रखना शिष्यसंग्रह कहलाता है। प्रकाशरूप होनेसे विद्या दिन है और अविद्या रात्रिरूप है, इसलिये विद्याके अभ्यासमें प्रमाद करना दिवाशयन कहलाता है। अध्यात्मशास्त्रकी कथामें, भिक्षा मांगनेके समय अथवा देवताकी स्तुति करते समय जो आवश्यक बोलना पड़ता है उसको छोड़कर मार्गमें सामनेसे जो मनुष्य आता हो उसके ऊपर अनुग्रह करके उससे जो कुशलप्रश्न करना वह वृथालाप कहलाता है।

शिष्योंका संग्रह न करे इतना ही नहीं किन्तु उनको देवे भी नहीं श्रुतिमें 'न च' कहकर चकारका ग्रहण किया है। इसलिये स्मृतिमें निरूपण की हुई अन्य वस्तुओंको भी त्याग देय। वे निषिद्ध वस्तुएं मेधातिथिने दिखायी हैं—

स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् ।
षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥
रसायनं क्रियावादं ज्योतिषं क्रयविक्रयम् ।
विविधानि च शिल्पानि वर्जयेत्परदारवत् ॥

स्थावर, जङ्गम, बीज, तैजस पदार्थ, विष तथा शस्त्र इन छः वस्तुओं को यति मूत्र और पुरीषकी समान जान कर ग्रहण न करे। रसायन, कर्मके विषयका वाद, ग्रहफल आदिका विचार करना, खरीदना बेचना तथा कारीगरी इन बातोंको परस्त्रीकी समान त्यागदेय।

योगीको लौकिक तथा वैदिक व्यवहारमें जो बाधक वस्तुएं हैं उनका त्याग करना कहा है, अब प्रश्नोत्तरसे अत्यन्त बाधक वस्तुओंको दिखाकर उनके त्यागको कहते हैं—

बाधाभावः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव । यस्माद्वि-

क्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत्स ब्रह्महा भवेत् । यस्मा-
द्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत्स पौल्कसो भवेत् ।
यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं ग्राह्यं चेत्स आत्महा भवेत्तस्मा-
द्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं न स्पृष्टं च न ग्राह्यञ्च ।

प्रश्न-यतिको अत्यन्त बाधा करनेवाला क्या है ?। उत्तर-स्वर्णको अत्यन्त बाधा करनेवाली वस्तु है, क्योंकि-यदि वह सुवर्णको प्रीति के साथ देखता है तो वह ब्रह्महत्या करनेवाला होता है । यदि वह सुवर्णको प्रीतिपूर्वक छूता है तो चाण्डाल होता है । यदि वह सुवर्ण को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करता है तो वह आत्महत्यारा होता है, इस लिये संन्यासी सुवर्णको प्रीतिपूर्वक न देखे, न छुए और न ग्रहण करे।

'यतिको अत्यन्त बाधक है' ऐसी प्रतिज्ञा करके सुवर्णको बाधक कहा है । यदि सुवर्णकी इच्छा करके आदर के साथ देखे तो ब्रह्म-हत्यारा होता है, क्योंकि-सुवर्णमें आसक्ति होजानेके उसको पानेका तथा रक्षा करनेका सदा यत्न करता हुआ यति, सुवर्णके मिथ्यापने को मिटानेके लिये संसारका मिथ्यापना दिखानेवाले वेदान्तके वाक्योंमें दोष लगाकर सुवर्णको ही सत्य बताने लगता है, इससे मानो वह यति शास्त्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्वकी हिंसा करता है अतएव ब्रह्म-हत्यारा है । स्मृति भी कहती है—

ब्रह्म नास्तीति यो ब्रूयाद् द्वेष्टि ब्रह्मविदश्च यः ।
अभूतब्रह्मवादी च त्रयस्ते ब्रह्मघातकाः ॥
ब्रह्महा स तु विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः ।

जो 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा कहता है और जो ब्रह्मज्ञानीसे द्वेष करता है और मिथ्या ब्रह्मज्ञानी बनता है ये तीनों ब्रह्महत्यारे हैं । सब धर्मोंसे भ्रष्ट हुए ऐसे पुरुषको ब्रह्महत्यारा जानो । जानकर सुवर्णको छूए तो भी वह छूनेवाला संन्यासी पतित होनेके कारण पौल्कस कहिये म्लेच्छकी समान होजाता है । इस पतितपनेको स्मृति भी कहती है-

पतत्यसौ ध्रुवं भिक्षुर्यस्य भिक्षोर्द्वयं भवेत् ।
धीपूर्वं रेतउत्सर्गो द्रव्यसंग्रह एव च ॥

जो संन्यासी जानकर वीर्यपात तथा धनका संग्रह करता है वह निश्चय पतित होजाता है ।

संन्यासी इच्छापूर्वक सुवर्णको न लेय, क्योंकि-सुवर्णको लेनेसे वह देह इंद्रियादिके आत्माका घातक होता है, क्योंकि--अपने

आत्माके मैंसेपनेको छोड़ कर उसने आत्माको सुवर्ण आदि द्रव्योंका भोक्ता माना है। आत्माका उलटा ज्ञान सर्वपापरूप है, ऐसा स्मृति कहती है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

आत्माका स्वरूप है तो अन्य प्रकारका परन्तु तो भी जो अपनी इच्छानुसार और ही प्रकारका मानता है, उस आत्माका हरन करने वाले चोरने कौनसा पाप नहीं किया? सब ही किया।

आत्मघातीको अनेकों दुःखोंसे भरे उस लोककी प्राप्ति होती है, जिसमें लेशमात्र भी सुख नहीं है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

जो आत्मघाती पुरुष हैं वे मर कर उन लोकोंमें जाते हैं, कि—जिन अन्धकारसे भरे लोकोंमें असुर जाया करते हैं।

सुवर्णका दर्शन, स्पर्श और ग्रहण जैसे दोषका कारण है तैसे ही याचकके साथ सुवर्णकी बातें सुनना, उसके गुण गाना तथा उससे क्रयविक्रय आदिका व्यवहार करना यह भी प्रत्यवायका ही कारण है। इच्छाके साथ सुवर्णको देखना दोष उत्पन्न करता है, इस कारण संन्यासीको सुवर्णके सब व्यवहार त्यागदेने चाहिये, सुवर्णके त्यागका फल कहते हैं कि—

सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते, दुःखे नोद्विग्नः
सुखे निस्पृहस्त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयो-
रनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदते च सर्वेषामि-
न्द्रियाणां गतिरुपरमते च आत्मन्येवावस्थीयते॥

जो पुरुष धनकी इच्छाको त्यागकर परमात्मामें ही स्थिति करता है उसके मनमें रहनेवाली सब इच्छाओंका नाश होजाता है, वह दुःखमें उद्वेग नहीं पाता है, सुखमें निःस्पृह रहता है, राग त्याग सर्वत्र शुभ अशुभमें स्नेह नहीं करता है, वह किसीसे द्वेष नहीं करता है, वह किसी पदार्थसे हर्ष नहीं मानता है, और उसकी सब इन्द्रियोंकी गति विषयोंमेंसे हट कर परमात्मामें ही ठहर जाती है।

पुत्र, स्त्री, घर, खेत आदि सब भोग पदार्थोंका मूल सुवर्ण कहिये द्रव्य है अतः द्रव्यको त्याग देनेसे स्त्री पुत्रादिकी मनमें की इच्छा भी निवृत्त होजाती है। कामकी निवृत्ति हुई कि—जगत्से प्राप्त होने

आसन, पात्रका लोभ, सञ्चय, शिष्यसंग्रह, दिवाशयन तथा वृथा भाषण ये छः बातें संन्यासियोंको बन्धनमें डालने वाली हैं। ग्राममें एक दिनसे अधिक रहना, शहरमें पांच दिनसे अधिक और चौमासेसे अन्य समयमें एक ही स्थान पर रहनेका नाम आसन है। भिक्षाके अन्नका भोजन करने वाला यति यदि तोंबी आदि पीछे कहे पात्रोंमेंसे एक २ का भी संग्रह करे तो वह पात्रलोभ कहलाता है। जो एक २ दण्ड आदि ग्रहण करलिया है, उससे अधिक आगेको काममें आजायगा ऐसे विचार से ग्रहण करलिया जाय तो वह सञ्चय कहलाता है। अपनी सेवाके लिये, लाभके लिये, पूजाके लिये, यशके लिये या दयावश भी शिष्यों को साथमें रखना शिष्यसंग्रह कहलाता है। प्रकाशरूप होनेसे विद्या दिन है और अविद्या रात्रिरूप है, इसलिये विद्याके अभ्यासमें प्रमाद करना दिवाशयन कहलाता है। अध्यात्मशास्त्रकी कथामें, भिक्षा मांगनेके समय अथवा देवताकी स्तुति करते समय जो आवश्यक बोलना पड़ता है उसको छोड़कर मार्गमें सामनेसे जो मनुष्य आता हो उसके ऊपर अनुग्रह करके उससे जो कुशलप्रश्न करना वह वृथालाप कहलाता है।

शिष्योंका संग्रह न करे इतना ही नहीं किन्तु उनको देखे भी नहीं श्रुतिमें 'न च' कहकर चकारका ग्रहण किया है। इसलिये स्मृतिमें निषेधकी हुई अन्य वस्तुओंको भी त्याग देय। वे निषिद्ध वस्तुएं मेधातिथिने दिखायी हैं—

> स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् ।
> षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥
> रसायनं क्रियावादं ज्योतिषं क्रयविक्रयम् ।
> विविधानि च शिल्पानि वर्जयेत्परदारवत् ॥

स्थावर, जङ्गम, बीज, तैजस पदार्थ, विष तथा शस्त्र इन छः वस्तुओं को यति मूत्र और पुरीषकी समान जान कर ग्रहण न करे। रसायन, कर्मके विषयका वाद, ग्रहफल आदिका विचार करना, खरीदना बेचना तथा कारीगरी इन बातोंको परस्त्रीकी समान त्यागदेय।

योगीको लौकिक तथा वैदिक व्यवहारमें जो बाधक वस्तुएं हैं उनका त्याग करना कहा है, अब प्रश्नोत्तरसे अत्यन्त बाधक वस्तुओंको दिखाकर उनके त्यागको कहते हैं—

आबाधकः क इति चेदाबाधकोऽस्त्येव । यस्माद्भि-